UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180244

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H84 | T165 Accession No. G.H.854

Author टंडन, प्रेमनारायण |

Title साहित्य-परिचय | १९५२

This book should be returned on or before the date last marked below.

साहित्य-परिचय

[विभिन्न साहित्यिक विषयों पर लिखे
आलोचनात्मक और परिचयात्मक
लेखों का संकलन]

*

लेखक

प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०, सा० रत्न
रिसर्च स्कालर लखनऊ विश्वविद्यालय

*

प्रथम संस्करण] १९५२ [दो रुपये

Checked 1965

प्रकाशक—

Checked 1969

अग्रवाल प्रेस, प्रयाग । G.H. 854

H84

हमारी प्रकाशित कुछ उपयोगी पुस्तकें

१	हिंदी-सेवी-संसार	...	५)
२	विश्व-संस्कृति का विकास	...	१।)
३	रहस्यवाद और हिंदी कविता	...	१॥)
४	गबन : एक अध्ययन	...	॥।=)
५	स्कंदगुप्त : एक अध्ययन	...	१।)
६	अजात शत्रु : एक अध्ययन	...	१।)
७	नंददास-कृत 'भँवर-गीत' सटीक	...	।=)
८	प्रेरणा—पाँच एकांकी	...	॥।)
९	हिंदी रचना और उसके अंग	...	२)
१०	चन्द्रगुप्त : एक अध्ययन	...	१।)
११	गोदान : एक अध्ययन	...	१॥)
१२	निर्मला : एक अध्ययन	...	॥।)
१३	संकल्प—तीन एकांकी	...	१।)
१४	हृदय-ध्वनि—कविता	...	१।)
१५	सोहागदान—तीन एकांकी	...	॥।=)
१६	हमारे अमर नायक	...	॥।)

विद्या मंदिर, चौक, लखनऊ ।

मुद्रक— अग्रवाल प्रेस, प्रयाग ।

[केवल इनर टाइटिल देवताप्रेस, लखनऊ में छपा]

❀ निवेदन ❀

प्रस्तुत संकलन नवंबर, १९४२ में छपा था; परंतु अनेक कारणों से प्रकाश में आज से पहले न आ सका।

इसमें संगृहीत लेख 'वीणा', 'विशालभारत', 'विक्रम' आदि हिंदी के प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में सन् १९३९ से १९४२ तक छपे थे। इनको लेकर साहित्यिक निबंधों का उद्देश्य, साहित्य में उनका स्थान, जैसे गंभीर और महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा भी दुस्साहस ही है; फिर भी, हिंदी-गद्य-संबंधी द्वितीय और तृतीय जैसे लेखों से, मुझे विश्वास है, बी० ए०, एम० ए० तथा समकक्ष कक्षाओं के छात्रों का पर्याप्त मनोरंजन होगा। अस्तु।

आरंभ में इन लेखों के प्रकाशन से आत्माभिव्यंजन-वृत्ति को सहज शांति मिली थी; आज, इस संकलित रूप में, अध्ययनशील पाठकों को साहित्य का परिचय कराने में, यदि ये किसी भी दृष्टि से सहायक हो सके तो मैं अपना सौभाग्य समझूँगा।

१५ अगस्त, १९४६] प्रेमनारायण टंडन,

विषय-सूची

	विषय		पृष्ठ
१	लेखक की शैली	... ...	१
२	हिंदी गद्य की प्रगति का चिह्न-काल	...	१६
३	हिंदी-गद्य का प्रस्तावना काल	...	३८
४	हिंदी नाटक का विकास	... ...	६५
५	सूरसागर	... ...	८४
६	हिंदी कविता का विकास	... ...	१०१
७	तुलसी का बाल-राम-रूप-वर्णन	...	१२६
८	आलोचना का जन्म और विकास	...	१५१
९	भ्रमरगीत-प्रसंग	... ...	१५५
१०	प्रेमचंद और आधुनिक स्त्री समाज	...	१७०
११	हिंदी लेखक—एक चित्र	... ...	१८६

साहित्य - परिचय

लेखक की शैली

जब हम अपने किसी मित्र को दूर पर आता हुआ देखते हैं तब फौरन हमारे मुँह से निकल पड़ता है — लीजिए, फलाने तो आ गए। इसी प्रकार जिस लेखक या कवि का हमने अध्ययन किया है, मित्र की तरह बहुत दिनों तक जिसकी कृतियों के साथ रहे हैं, उसका केवल एक वाक्य अथवा एक छंद सुनते ही हमारे मुँह से झट निकल पड़ेगा — यह वाक्य या छंद तो अमुक लेखक अथवा कवि का हो सकता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस लेखक या कवि की सब रचनाओं को हमने कंठाग्र कर लिया है और सुनते ही हमें भूली बात की तरह कहा हुआ वाक्य या छंद याद आ जाता है। वास्तव में बात यह है कि जिस तरह हम अपने मित्र की चाल-ढाल, तर्ज-तरीका देख कर उसे पहचान लेते हैं, उसी प्रकार वाक्य या छंद सुन कर अपने प्रिय लेखक या कवि को। यह बात इस

तरह भी समझायी जा सकती है कि हम अपने कमरे में बैठे हुए हैं। घर के बाहर से किसी ने आवाज दी और हमारे मुँह से यह निकल पड़ा — आओ भाई, बहुत दिन बाद आए; अथवा आओ, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर ही रहा था। इसका आशय यह हुआ कि हम अपने मित्रों, पड़ोसियों अथवा संबंधियों की केवल आवाज सुन कर ही — चाहे हम उन्हें देख न भी सकें — पहचान लेते हैं कि कौन बोल रहा है। इसी प्रकार वाक्य या छंद— शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास तथा उसका ढंग— लेखक की वाणी के समान है; इस वाणी को— उसके कहने की रीति को—बार बार सुनते सुनते हम उससे परिचित हो जाते हैं और इसी लिए एक वाक्य या छंद सुन कर ही कह जाते हैं — यह तो अमुक लेखक या कवि का है। यह कहना हमारे लिए तभी सरल हो सकता है जब हम उसके कहने— लिखने — के ढंग से भली-भाँति परिचित हों। सीधे-सादे शब्दों में हम कह सकते हैं कि लेखक के लिखने या अपने भाव प्रकट करने का ढंग ही उसकी शैली है और प्रत्येक लेखक अथवा कवि की रचनाओं का भली भाँति अध्ययन करने पर हम यह उसी प्रकार आसानी से बता देंगे कि यह शैली अमुक लेखक या कवि की है जिस प्रकार अपने मित्र अथवा

परिचित व्यक्ति की चाल देख कर अथवा केवल आवाज सुन कर हम उसका नाम बता सकते हैं।

प्रायः देखते हैं कि हमारा एक मित्र दूसरे की आवाज अथवा चाल ढाल की नकल करता है। कभी-कभी अपने इस प्रयत्न में वह थोड़ा बहुत सफल भी हो जाता है और तब हम कह उठते हैं कि वैसी ही आवाज अथवा चाल है; परंतु वह जिसकी नकल करता है ठीक उसी की तरह चलने अथवा बोलने में सफल नहीं होता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार, परिस्थिति का प्रभाव, अनुभव, विचार, आदर्श, मान एक-दूसरे से अलग होते हैं और जब वह बात करता है तब इनका उसके कहने के ढंग पर प्रभाव पड़ता है। फलतः एक व्यक्ति के कहने या बोलने का ढंग दूसरे से भिन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में, इसका कारण यह है कि कहने या बोलने के ढंग पर उसके व्यक्तित्व—व्यक्ति की निजी बातों, जैसे कल्पना अनुभूति, आदर्श आदि—का प्रभाव पड़ता है।

ठीक यही बात शैली के संबंध में भी कही जा सकती है। प्रत्येक लेखक या कवि की अनुभूति और कल्पना, उसका अनुभव और आदर्श, उसके विचार और भाव—एक शब्द में, उसका व्यक्तित्व दूसरे से भिन्न होता है। जब वह कुछ लिखने बैठता है तब

उसके व्यक्तित्व का उसके ढंग पर प्रभाव पड़ता है। यही बात सभी लेखकों के लिए सत्य है। अतः जब सभी लेखकों और कवियों का व्यक्तित्व अलग अलग होगा तब सभी के लिखने के ढंग भी भिन्न भिन्न होंगे। प्रश्न हो सकता है—क्या एक लेखक दूसरे के लिखने के ढंग—उसकी शैली—की नकल कर सकता है? यदि नकल करनेवाले के विचार, उसका आदर्श और अनुभव, उसकी कल्पना और अनुभूति—एक शब्द में, उसका व्यक्तित्व—जिस लेखक अथवा कवि की शैली की वह नकल करना चाहता है, उसी की तरह का होगा—ऐसा होता बहुत कम है—तब तो उसे थोड़ी-बहुत सफलता मिल जायगी जैसी वाणी या चाल-ढाल नकल करने वाले को मिल जाती है, परंतु जैसा साधारणतः देखने में आता है कि सभी लेखकों के व्यक्तित्व—विचार, भाव, आदर्श तथा अध्ययन आदि—समान नहीं होते, वैसे ही, यदि शैली की नकल करनेवाले का व्यक्तित्व, जिसकी शैली की नकल करने का वह प्रयत्न कर रहा है उससे भिन्न है, तब सफलता की आशा बिलकुल नहीं की जा सकती। इसलिए भावों और विचारों को प्रकट करनेकी प्रणाली में जो नवीनता अथवा भिन्नता अपने व्यक्तित्व की छाप अथवा प्रभाव के कारण आती है, वही लेखक की शैली कहलाती है।

प्रत्येक मनुष्य के पास कुछ विचार होते हैं और वह उनको व्यक्त करने—लिखने अथवा कहने—का प्रयत्न भी करता है। ऐसा करते समय उसकी यह हार्दिक अभिलाषा रहती है और इसके लिए वह शक्ति भर प्रयत्नशील भी रहता है कि उसके विचार और भाव, उसकी कल्पना और अनुभूति, इस तरह व्यक्त की जायँ कि पढ़ने या सुननेवालों पर अधिक से अधिक प्रभाव पड़े। इस कार्य के लिए लेखक को भाषा की आवश्यकता पड़ती है। भाषा सार्थक शब्दों का ऐसा समूह है जो हमारे विचारों को दूसरों तक और दूसरों के विचारों को हम तक पहुँचाते हैं परंतु शब्द सार्थक होते हुए भी उस समय तक शक्तिहीन ही रहते हैं जब तक वे विचारों को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने के लिए वाक्यों में सजाए नहीं जाते। अतः एक ओर तो शब्दों के प्रयोग का प्रश्न आता है और दूसरी ओर उनका इस ढंग से प्रयोग करने का कि वे विशेष रूप से अपना प्रभाव डाल सकें। दूसरे शब्दों में, एक ओर तो शब्द विशेष महत्व के हैं और दूसरी ओर वाक्य-विन्यास—शब्दों को प्रभावोत्पादक ढंग से सजाना। अपने भावों को प्रकट करने का कार्य यों तो इन दोनों की सहायता से होता है तो भी प्रधानत

वाक्य - विन्यास की ही रहती है। अतः सुविधा के लिए, लेखन - शैली के दो रूप किए जा सकते हैं—

(१) वाक्य - विन्यास अथवा भाव - प्रकाशन - शैली।
(२) शब्द - योजना अथवा भाषा - शैली।

हम देख चुके हैं कि शैली अपने विचारों को प्रकट करने का ऐसा निजी ढंग है जो व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण एक - दूसरे से भिन्न रहता है। यदि एक लेखक विद्वान् होते हुए भी आलस्य अथवा अन्य किसी कारण से अव्यवस्था - प्रिय बन गया है तो पाठक उसकी बुद्धि की भले ही प्रशंसा करें, परंतु अव्यवस्था उन्हें अवश्य अप्रिय लगेगी। इसी प्रकार यदि हमारा लेखक विद्वान् न होते हुए भी अपने को विद्वान् प्रदर्शित करना चाहता है, तो आरंभ में उसके विचार अपरिपक्व होंगे और शैली अपरिमार्जित रहेगी; हाँ, ज्यों - ज्यों उसका ज्ञान बढ़ता जायगा और वह लिखने का अभ्यास करता रहेगा, त्यों - त्यों उसके विचार स्पष्ट और प्रौढ़ होते जायँगे और शैली सुलझी हुई तथा संयत होती जायगी।

अध्ययन और अभ्यास का यह प्रभाव शैली के उक्त दोनों ही रूपों पर पड़ेगा। नीचे हम इन दोनों रूपों पर प्रभाव डालनेवाली बातों की अलग-अलग विवेचना करके यह बतालाएँगे कि किसी लेखक

की शैली की आलोचना करते समय किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए।

(१) भाव - प्रकाशन - शैली

ऊपर कहा जा चुका है कि भाव - प्रकाशन - शैली से वाक्यों की रचना के उस ढंग की ओर हमारा संकेत है जिसे विचार अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए हमें अपनाना पड़ता है। यहाँ हम उन रीतियों के दिखाने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं जिनसे इस कार्य में सहायता मिलती है; हम केवल उन बातों की सरल विवेचना करेंगे जिनका शैली के इस रूप पर प्रभाव पड़ता है।

सबसे पहले लेखक की शैली पर उसकी रुचि, उद्देश्य और आदर्श का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए एक लेखक की रुचि विषय को अत्यंत सरल ढंग से व्यक्त करने की है और उसका उद्देश्य तथा आदर्श है साधारण से साधारण योग्यता के पाठकों को विषय भली-भाँति समझा देना, तब वह (पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसा लेखक) सरल वाक्यों का प्रयोग कर के, एक बात को बार बार, दूसरे दूसरे शब्दों में दोहरा कर, सरल भाषा का इस ढंग से प्रयोग करेगा कि सभी पाठक बिना प्रयास, उसकी बात समझ लें। यदि (द्विवेदीजी की भाँति ही) उस सर-

लता - प्रिय लेखक का उद्देश्य किसी वस्तु - विशेष का प्रचार करना अथवा भूले - भटके व्यक्तियों को उनका कर्तव्य सुझाना है तब वह सरल भाषा को अपनाकर उपदेशात्मक और आदेशात्मक ढंग से काम लेगा। यदि इस पर भी लोग उसके कथन पर ध्यान न देंगे, या कभी कभी उसका विरोध करेंगे और लेखक अपनी दृष्टि में—या कुछ लोगों की सम्मति में—ठीक रास्ते पर है, उसके विचार जन - साधारण के लिए हितकर जान पड़ते हैं, तब वह कभी व्यंग्य और कटाक्ष से काम लेगा, कभी जोश में आकर उन्हें फटकारने लगेगा, कभी ओजपूर्ण शैली में अपने विचार व्यक्त करेगा अथवा यदि वह भाग्यवादी हुआ तो ईश्वर की दुहाई देता रह जायगा जिसे कुछ लोग 'प्रलाप' के नाम से पुकारेंगे।

दूसरा लेखक (जैसे स्व० पंडित रामचंद्र शुक्ल) गंभीर विचार का है, उसका अध्ययन भी गंभीर है और अपने दैनिक जीवन में भी वह प्रायः गंभीर ही रहता है तब उसका अपने विचारों को प्रकट करने का ढंग भी गंभीर होगा। यदि उसका उद्देश्य अपने विचारों को प्रकट करना अथवा विषय की विवेचना करना मात्र है—साधारण पाठक कुछ लाभ उठा सकेंगे या नहीं, इसकी वह चिंता ही नहीं करता—तो उसकी शैली भी ऐसी क्लिष्ट और गंभीर होगी कि एकाध

ष्ठ पढ़ कर ही साधारण पाठक का दिमाग चकरा ायगा। हाँ, जो लोग पढ़े-लिखे और विद्वान् होंगे । उसकी पुस्तकों से अवश्य लाभ उठाएँगे और उसकी वेद्वत्ता की सराहना करेंगे।

यदि लेखक (पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की ारह) बड़ा हँसमुख है तो उसकी शैली में उसके वभाव की इस विशेषता के भी स्पष्ट दर्शन होंगे। ाथ ही, गंभीर अध्ययन होने पर उसकी गंभीर ैली में हास्य का ऐसा मिश्रण मिलेगा (उदाहरण के लिए पंडित पद्मसिंह शर्मा की शैली की ओर संकेत किया जा सकता है) जो पाठकों को विशेष रुचिकर ोगा। यही रहस्य—साधारणतः कहा जा सकता है—ात्यंत संयत, नियमित और शिष्ट होने पर कभी-ाभी व्यंग्य और कटाक्ष के रूप में दिखायी देता है। डित रामचंद्र शुक्ल की शैली में इसके उदाहरण ेलते हैं।

कभी कभी भाव-प्रकाशन-शैली में विषय के ानुसार भी परिवर्तन होता है। इतिहास, तीर्थ-यात्रा ैसे विषय वर्णन की प्रधानता होने के कारण सरल ग से, केवल परिचय कराने के लिए लिखे जाते हैं। सके विपरीत, सत्य, जीवन, धर्म, प्रेम, करुणा, ालोचना, आदि गंभीर विचारात्मक विषयों के

विवेचन के लिए प्रायः गंभीर शैली ही अपनानी पड़ती है। अपने दैनिक जीवन में भी हम प्रायः यह बात देखते हैं कि जब हम साधारण विषय पर वार्तालाप करते हैं तब गंभीर होने की आवश्यकता नहीं समझते, परंतु गंभीर प्रश्न आने पर फौरन कह बैठते हैं—अच्छा अब हँसी हो चुकी, गंभीर होकर काम की बातें करो। यही बात गंभीर विषयों का विवेचना करते समय लेखक भी अपने मन में कहता है।

शैली के संबंध में एक बात यह भी याद रखना चाहिए कि उस पर समय की परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है। 'साहित्यालोचन' में डा० श्यामसुंदर दास ने कहा है कि किसी निर्दिष्ट काल का कोई ग्रंथकार या कवि उस की विशेषता के कारण, अपने भावों या विचारों को उस काल की प्रकृति या परिस्थिति के प्रभाव से अछूता नहीं रख सकता। इस दशा में उन विचारों या भावों के व्यक्तिकरण का ढंग भी—शैली भी—उस प्रभाव की पहुँच की सीमा के बाहर कैसे रह सकता है? उसे भी अपना रूप बदलना पड़ता है। जैसे किसी कवि की कृति की अंतरात्मा पर, चाहे उस पर उसकी व्यक्तिगत सत्ता की छाप कितनी ही गहरी क्यों न पड़ी हो, उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, वैसे ही उसकी

रचना का वह्य रूप भी उसके प्रभाव से नहीं बच सकता। इस सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए हम उदाहरणार्थ लल्लूलाल और हरिश्चंद्र के गद्य को उपस्थित करते हैं। इन दोनों के गद्य को ध्यानपूर्वक पढ़कर विवेकशील पाठक स्पष्ट देख सकते हैं कि दोनों की शैली में कितना अंतर है। यह सच है कि लल्लूलाल ने व्रजभाषा के पद्य और व्रजमंडल की बोली का सहारा लेकर गद्य लिखने का प्रयत्न किया है और हरिश्चंद्र को लल्लूलाल के पीछे के, और अपने से १०-२० वर्ष पहले के गद्य के विकसित रूप का सहारा मिला है। पर यहाँ हमारा उद्देश्य उन कारणों पर विचार करना नहीं है जिनसे इन दोनों के गद्य में इतना अंतर हो गया है। हम तो केवल यह दिखाना चाहते हैं कि दोनों की गद्य-शैली ने किस तरह भिन्न भिन्न रूप धारण किए। लल्लूलाल की कृति बहुत पहले की है, उस पर कविता का प्रभाव स्पष्ट रूप से है। उस समय तो वह अपना रूप स्थिर करने में लगी हुई थी; पर हरिश्चंद्र के समय में उस रूप में कुछ कुछ स्थिरता आ गई थी; वह परिमार्जित हो चली थी, उसमें प्रौढ़ता और शक्ति-संपन्नता के चिह्न दिखाई दे रहे थे, वह भाव-व्यंजना में अधिक समर्थ हो चली थी। उसी रूप से अनुप्राणित और प्रभावान्वित

होकर हरिश्चंद ने गद्य-लेखन की उस शैली को अवतारणा की है जिसे हम पुस्तकों में पाते हैं।

संक्षेप में, प्रत्येक लेखक की शैली पर निजी रुचि, स्वभाव, उद्देश्य और आदर्श का प्रभाव तो एक ओर पड़ता है और परिस्थिति तथा विषय का बाहरी प्रभाव दूसरी ओर। अतः किसी लेखक को शैली का अध्ययन करने के पूर्व हमें निम्नलिखित बातें जानने का प्रयत्न करना चाहिए:—

(१) परिस्थिति अथवा समय जब उसने ग्रंथ-रचना आरंभ की।

(२) उसका उद्देश्य, स्वभाव और आदर्श। इन पर परिस्थिति और संस्कार का प्रभाव पड़ेगा।

(३) लेखक का प्रिय विषय।

यदि इन तीनों बातों का अध्ययन हमने कर लिया तो लेखक की शैली की रूपरेखा से हम परिचित हो जायँगे।

ऊपर जिन बातों की विवेचना की गयी है उनसे हमें लेखक की रचना-शैली समझने में सहायता मिल सकती है, परंतु उसकी आलोचना करने के लिए हमें वाक्य-विन्यास का अध्ययन करना पड़ेगा। वाक्य-रचना के विषय में साधारणतः यह देखना चाहिए कि

लेखक ने वाक्य छोटे लिखे हैं अथवा बड़े; उनका संगठन कैसा है; समुच्चयबोधक 'और' का अधिक प्रयोग करने से वाक्यों में शिथिलता तो नहीं आ गयी है। वाक्य जटिल और दुर्बोध तो नहीं हैं, जान-बूझ कर उन्हें बढ़ाने या जटिल बनाने का प्रयत्न तो नहीं किया गया है, अनावश्यक वाक्यांशों का प्रयोग तो नहीं है। साथ ही यह भी देखना चाहिये कि लेखक ने मुहावरों का समुचित प्रयोग किया है या नहीं; और उनसे क्या लाभ अथवा उनके न होने से क्या हानि हुई है। अंतिम बात यह है कि अपने विचारों को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने के लिए उसने कैसे वाक्य लिखे हैं। प्रायः लेखक संयुक्त अथवा मिश्रित वाक्यों का प्रयोग करके अपना उद्देश्य व्यक्त करनेवाला प्रधान उपवाक्य अंत में रखते हैं। इससे पाठक की उत्सुकता बढ़ जाती है। कभी कभी कई वाक्यों में प्रश्नवाचक चिह्न लगा कर अपनी बात पर जोर देते हैं। कोई कोई लेखक (जैसे बाबू जय शंकर 'प्रसाद') नाटकीय ढंग से वाक्य-रचना कर के उन्हें प्रभावोत्पादक बनाते हैं। इसी प्रकार व्यंग्य और कटाक्ष की चुभती हुई फबतियाँ भी—यदि हों तो—छाँटना चाहिए। इनकी विवेचना करने में बड़ा आनंद आएगा। परंतु इस संबंध में इतना और याद रखना चाहिए कि व्यंग्य और कटाक्ष शिष्टाचार की सीमा के

अंतर्गत ही हों ; दिलजले के फफोले नहीं। इनका प्रयोग कुशल लेखक ही (जैसे पं० रामचंद्र शुक्ल) सफलता-पूर्वक कर सकता है।

(२) भाषा - शैली

भाषा - शैली के विषय में सब से पहले तो हमें यह देखना चाहिए कि हिंदी के तीन रूपों में से— जो भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से प्रचलित हुए थे— उसने किस किस को अपनाया है और क्यों? प्रायः हम देखेंगे कि सभी लेखकों की भाषा एक से अधिक प्रकार की है और इस विभिन्नता के कारण, जैसे ऊपर लिखा जा चुका है, विषय का गंभीर या सरल होना तो एक ओर है और रुचि तथा आदर्श दूसरी ओर। अतः सबसे पहले हमें इन्हीं से परिचित होना चाहिए। एक लेखक (जैसे प्रेमचंदजी) का विषय केवल कहानी और उपन्यास लिखना है। साधारणतः उसकी भाषा सरल और प्रचलित ही होगी। स्थल - विशेष पर पात्र की भाषा का ध्यान करके अथवा अन्य किसी कारण से, संभव है, अन्य दोनों रूपों में से एक के या दोनों के दर्शन भी हो जायँ। पर कहानी - लेखक यदि (बा० राय-कृष्णदास की भाँति) भावुक और कवि हुआ तो उसकी भाषा के साधारण रूप पर उसका प्रभाव भी पड़ता है और यदि (बा० जयशंकर 'प्रसाद' की

तरह) लेखक भावुक और कवि होते हुए भी अपना निजी आदर्श रखता है तो उस काव्यात्मक भाषा-शैली में उस आदर्श के अनुसार भी परिवर्तन होना चाहिए। ऐसी दशा में उसकी भाषा में अलंकारों की छटा के साथ-साथ चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ तो मिलेंगी ही, साधारण रूप भी आवरण से ढक जायगा। इसी प्रकार गंभीर विषयों पर लिखते समय भी भाषा में संस्कृत के शब्दों का—कभी कभी समासांत पदों का—बाहुल्य रहेगा। यदि लेखक भाषा के इस रूप का पक्षपाती हुआ (जैसे पं० गोविंदनारायण मिश्र) तब तो फिर सरल विषय भी 'कादंबरी' की गद्यकाव्य की भाषा में लिखा जायगा।

इसके पश्चात् हमें विदेशी शब्दों के—विशेष कर अरबी, फारसी और अँगरेजी शब्दों के—प्रयोग पर ध्यान देना चाहिए। आज राष्ट्रभाषा का महत्वपूर्ण प्रश्न छिड़ जाने पर इस ओर ध्यान देना बहुत आवश्यक है।

अंतिम बात है हिंदी भाषा के तीनों रूपों तथा विदेशी शब्दों के प्रयोग के विषय में लेखक के विचारों से परिचित होना। हमारा यह कार्य लेखक की भाषा-शैली के समझने में तो सहायक होगा ही, साथ ही हम भाषा तथा उसके रूपों के विकास का कारण-सहित क्रम भी जान सकेंगे। तभी शैली का अध्ययन भी उचित रीति से हो सकेगा।

हिंदी गद्य की प्रगति का चिह्न-काल

गद्य की प्रगति का सीधा-सादा अर्थ है बोल-चाल की सामान्य भाषा को साहित्यिक रूप मिलने के पश्चात् उसमें उच्च-कोटि के साहित्य का सृजन होना। सन् १८०० के पूर्व तक गद्य-भाषा पूर्ण रूप से व्यावहारिक हो चुकी थी। इसके पश्चात् लगभग १० वर्षों में इस व्यावहारिक भाषा को साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न हुआ। इसलिए इस काल को हम प्रगति-चिह्न-काल मात्र कह सकते हैं। इन वर्षों में मुंशी सदासुखलाल, इंशाउल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र ने इस संबंध में सराहनीय प्रयत्न किया। इन्हीं के उद्योग से हिंदी-गद्य ने साहित्यिक-रूप ग्रहण करने की ओर पैर बढ़ाया। अँगरेजों ने इस कार्य के लिए अंतिम दो लेखकों को थोड़ा-सा प्रोत्साहन दिया था; क्योंकि सन् १८०३ के लगभग कलकत्ते के फोर्ट-विलियम कॉलेज के अध्यक्ष जान-गिलिक्रिस्ट ने इनसे गद्य की कुछ पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराई थीं। परंतु प्रथम दो लेखक इसके पूर्व ही अपने कार्य में स्वांतःसुखाय प्रवृत्त हो चुके थे।

(क) मुंशी सदासुखलाल 'नियाज'

(सन् १७४६ से १८२४ तक)

इन्होंने आरंभ में तो 'जब उमंग आई तब' हिंदी, उर्दू और फारसी में लिखा; परंतु वस्तुतः इनका महत्वपूर्ण ग्रंथ 'सुखसागर' है जो श्रीमद्-भागवत के स्वतंत्र अनुवाद के रूप में हमें उपलब्ध है। यह 'भक्तिभाव से प्रेरित होकर' अर्थात् स्वांतः सुखाय लिखा गया था। अतः विषय की दृष्टि से 'सुखसागर' भले ही मौलिक न समझा जाय; परंतु साहित्यिक गद्य की पहली कृति होने के कारण साहित्य के विद्यार्थियों के लिए सदैव महत्व का रहेगा।

मुंशी जी की भाषा में 'होय', 'लय हूजिए', 'करि कै', 'होता है सो', आदि प्रयोग देखकर पहली बात जो ज्ञात होती है वह यह है कि 'सुखसागर' की भाषा पंडिताऊ ढंग की है और लेखक ने यद्यपि प्रयत्न तो खड़ी बोली में गद्य लिखने का किया तथापि ब्रजभाषा और अवधी के प्रभाव से वह उसे पूर्णतः मुक्त नहीं रख सका; उसमें प्रांतीयता और ग्रामीणता का पुट यत्र-तत्र मिलता ही है। दूसरा बात यह कि बोल-चाल की शिष्ट भाषा में मुंशीजी ने 'संस्कार', 'प्रयाण', 'क्रिया', 'उत्तम',

'तात्पर्य', आदि संस्कृत के तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में मिलाए हैं। तीसरे, 'सुखसागर' की भाषा में गंभीरता, स्थिरता और शांत प्रवाह है। चौथी बात यह कि मुंशीजी ने अरबी-फारसी के शब्दों से अपनी भाषा को बचाया है। 'सुखसागर' में कदाचित् ही कुछ ऐसे शब्द मिलते हों जिनसे किसी को यह कहने का अवसर मिले कि मुंशीजी की भाषा विदेशी भाषाओं से प्रभावित है। संभव है, अपने धार्मिक भाव के कारण ही उन्होंने ऐसा किया हो। दिल्ली के निवासी होते हुए और उर्दू-फारसी में अनेक काव्य-ग्रंथों की रचना करने पर भी उस समय ऐसी संस्कृत भाषा लिखना वास्तव में उस पर मुंशीजी का पूर्ण अधिकार प्रकट करता है। 'सुखसागर' की भाषा देखकर हमें यह भी ज्ञात होता है कि उर्दू के प्रभाव से रहित हिंदी भाषा उस समय प्रचलित थी। वस्तुतः यह खड़ीबोली का वही रूप है जिसका प्रचार मुगल राज्य के नष्ट होने के बाद हिंदुओं के इधर उधर चले जाने से शिष्ट-समाज में हो गया था।

सारांश यह कि गद्य में ग्रंथ-रचना करने के लिए मुंशीजी को न तो प्रेरणा ही किसी अन्य से मिली और न किसी आदर्श का अनुकरण ही उन्होंने किया। 'सुखसागर' लिखने के लिए उन्होंने 'भाखा' के

उस रूप को ग्रहण किया जिसको अप्रचलित होता देख कुछ दुख के साथ उन्होंने लिखा था—

रस्मोरिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।

संस्कृत-शब्दों की प्रचुरता के साथ-साथ इस कथा-भाषा में मुंशीजी ने खड़ी बोली के क्रिया, संज्ञा और सर्वनाम शब्दों तथा कारकों की विभक्तियों को भी अपनाने का सफल प्रयत्न किया। उनकी भाषा की यह विशेषता खड़ी बोली के स्वतंत्र विकास और स्वतंत्र अस्तित्व की परिचायक है।

(ख) इंशाअल्ला खाँ (मृत्य सन् १८२६)

बाल्यकाल से ही फारसी की शिक्षा का इनके लिए उचित प्रबंध किया गया था। प्रतिभा इनमें थी और थोड़ी ही अवस्था में ये फारसी तथा उर्दू में कविता करने लगे थे। हिंदी में इनकी लिखी 'रानी केतकी की कहानी' मिलती है। इसके लेखक का उद्देश्य भाषा के एक विशेष रूप पर अपना अधिकार दिखाना था। इन्होंने ऐसी भाषा में कहानी लिखने का प्रण किया था जिसमें—

(क) हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले।

(ख) बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।

(ग) हिंदवीपन भी न निकले, भाखापन भी न हो।

इन वाक्यों में प्रयुक्त, 'और किसी बोली', तथा 'बाहर की बोली' से लेखक का तात्पर्य अरबी, फारसी, तुरकी आदि विदेशी बोलियों से जान पड़ता है। 'गँवारी' से, संभव है, संकेत व्रजभाषा और अवधी आदि की ओर है और 'भाखापन' का प्रयोग संस्कृत-मिश्रित हिंदी के लिए किया गया है; क्योंकि मुसलमान संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त भाषा के लिए ही इस शब्द का प्रयोग किया करते थे। अतः खाँ साहब अरबी, फारसी, तुरकी आदि विदेशी तथा संस्कृत, व्रज और अवधी आदि देशी भाषाओं के शब्दों से रहित जिस भाषा में अपनी कहानी लिखना चाहते थे, वह साधारण बोलचाल की भाषा न होकर ठेठ घरेलू बोली होगी; क्योंकि बोलचाल की भाषा में उक्त भाषाओं के शब्द तत्सम, तद्भव रूप में अवश्य प्रयुक्त होते थे। अतः ठेठ घरेलू बोली के लिए ही उन्होंने 'हिंदवी' शब्द का प्रयोग किया था। खाँ साहब अपने प्रयत्न में थोड़े-बहुत सफल भी हुए हैं।

इंशाअल्ला खाँ की भाषा को देखकर यह कहा जा सकता है कि अपनी भाषा में जो 'ताव-भाव', 'कूद-फाँद' और 'लपट-झपट' दिखाने का उन्होंने

निश्चय किया था वही चटक-मटक और चुलबुलाहट इसमें बहुत काफी है। संस्कृत, अरबी, फारसी आदि देशी-विदेशी भाषाओं के तत्सम शब्दों का भी अभाव है—उन्होंने केवल घरेलू और तद्भव शब्द अपना कर अपना काम चलाया है। दूसरी बात यह कि खाँ साहब की भाषा कविता की तरह तुकांत और अनुप्रासपूर्ण है। इसके अतिरिक्त कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी खाँ साहब ने बहुत सुंदर किया है। राई को पर्वत बनाना, उँगली दिखाना, बात बनाना, ठंडी साँस लेना, बेसिर की बातें बनाना, दहना हाथ मुँह पर फेरना, चौकड़ी भूल जाना, आदि मुहावरों का प्रयोग मार्के का है। खाँ साहब की भाषा की यह विशेषता उनके समकालीन अन्य लेखकों के गद्य में नहीं मिलती। कह सकते हैं कि इन्हीं के प्रयोग के कारण वे देशी-विदेशी तत्सम शब्दों और प्रांतीय पुट से अपनी भाषा को बचा सके; परंतु उनकी भाषा में प्रवाह उर्दू-शैली का ही है। अनुप्रास का ढंग भी विदेशी है, यद्यपि यह ठीक है कि लल्लूलाल की भाषा भी सानुप्रास है जिसका कारण व्रजभाषा के प्राचीन गद्य और पद्य की शैली का अनुकरण करना है। खाँ साहब की कहानी में वाक्य-विन्यास पर भी फारसी शैली का प्रभाव है। 'सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ

अपने उस बनानेवाले के सामने', 'साथ ही दिन-रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को' जैसे वाक्य तो उनकी कहानी में मिलते ही हैं, कुछ परिच्छेदों के शीर्षक भी इसी ढंग के हैं, जैसे 'आना जोगी महेंदरगिरि का।' इस वाक्य-विन्यास तथा 'महेंद्र' के स्थान पर 'महेंदर' देखकर भी कहना पड़ता है कि विदेशी शब्दों के प्रभाव से खाँ साहब अपनी शैली को नहीं बचा सके, यद्यपि मुसलमान और फारसी तथा उर्दू के एक बड़े कवि होने के कारण हम इसे उनका दोष नहीं कह सकते।

खाँ साहब की भाषा के संबंध में एक बात और उल्लेखनीय है। वर्तमान हिंदी के प्रादुर्भाव के समय अर्थात् वीरगाथाकाल के आरंभ में कृदंत, क्रियाओं और विशेषणों आदि में वचन-सूचक चिह्न लगा कर प्रयुक्त होते थे। धीरे धीरे हिंदी में वचन-सूचक चिह्नों का प्रयोग कम होते होते प्रायः लुप्त हो गया; केवल पंजाबी भाषा में उसका अब भी प्रचलित होना बतलाया जाता है। इंशाअल्ला खाँ की भाषा में वचन-सूचक चिह्नों का प्रयोग भी दिखाई देता है। 'खाती, आती, जाती, ठहराती, फिरती' आदि के स्थान पर 'खातियाँ, आतियाँ, ठहरातियाँ, फिरतियाँ' आदि रूप मिलते हैं। संभव है, पंजाबी से प्रभावित

होकर खाँ साहब ने इस प्राचीन और अप्रचलित परिपाटी को अपनाया हो।

सारांश यह कि मुंशी सदासुखलाल ने अपना 'सुखसागर' एक प्राचीन संस्कृत ढंग के आधार पर लिखा था। अनुवाद में उन्होंने स्वतंत्रता से काम अवश्य लिया; फिर भी विषय का बंधन बना ही रहा। इंशाअल्ला खाँ ने मौलिक कहानी लिखी; किसी अन्य कथा-कहानी की छाया या आधार पर अथवा किसी लेखक का अनुकरण करके उन्होंने अपना ग्रंथ नहीं बनाया। विषय की दृष्टि से वे पूर्ण स्वतंत्र थे; हाँ, भाषा के संबंध में उन्होंने स्वयं प्रतिबंध लगा रखे थे। वस्तुतः खाँ साहब की कहानी की भाषा ही हमारे अध्ययन का विषय है। इसमें मुहावरों और कहावतों के कारण जो सजीवता आ गयी है वह तो सराहनीय है, परंतु अनुप्रास और पग पग पर मिलनेवाली तुकों की चटक-मटक के फलस्वरूप जो चुलबुलाहट और चंचलता आ गई उसमें उनकी भाषा को गंभीर विषयों के योग्य नहीं रखा। अपनी शैली और वाक्य-विन्यास पर नियंत्रण न रखने से ही उनकी भाषा में एक प्रकार की उच्छृंखलता आ गई। यदि यह न होता तो निश्चय ही खाँ साहब का अनुकरण किया गया होता। फिर भी हिंदी गद्य के प्रारंभिक लेखकों में इनका विशेष स्थान है।

(ग) लल्लूलाल (सन् १७६३ से १८२५ तक)

ऊपर जिन दो लेखकों की हिंदी - सेवा का परिचय दिया गया है, उन्होंने स्वांतःसुखाय हिंदी गद्य में अपने ग्रंथ लिखे थे। इन्हीं के दो अन्य समकालीन लेखकों ने कलकत्ते को फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यक्ष जान गिलक्रिष्ट के कहने से कुछ ग्रंथों की रचना की थी। लल्लूलाल इनमें से एक हैं। ये बहुत विद्वान् नहीं थे। संस्कृत, अँगरेजी और उर्दू का इन्हें सामान्य ज्ञान था। व्रजभूमि के निकट आगरे के निवासी होने के कारण व्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। परंतु कलकत्ता विद्यालय के अधिकारी देश में खड़ी बोली के प्रचार से परिचित थे। उन्होंने यद्यपि उर्दू में भी पाठ्य पुस्तकें तैयार करवाईं, तथापि उनका ध्यान मुख्यतः खड़ीबोली की तरफ ही रहा। वे जान गए थे कि जनता की भाषा का पद खड़ीबोली को ही प्राप्त है। इसलिए अपने कॉलेज के अध्यापक लल्लूलाल जी से उन्होंने ऐसी ही भाषा में पाठ्य - पुस्तकें तैयार करने को कहा।

'प्रेमसागर' में एक जगह 'विसका' शब्द आया है। इस शब्द से लेखक का आशय चतुर्भुजदास कृत भागवत दशम स्कंद के अनुवाद से है। लल्लू-लाल संस्कृत के बड़े पंडित नहीं थे, अतः उन्होंने

इस अनुवाद का सार लेकर 'प्रेमसागर' की रचना की थी। इसका विषय एक प्रकार से साधारण कहानी मात्र है। इसलिए उनकी भाषा बोल चाल की होनी चाहिए थी। परंतु 'यामनी भाषा' छोड़ने का जो प्रतिबंध उन्होंने लगा लिया था उसके फलस्वरूप दिल्ली, आगरे के आस-पास की खड़ीबोली अपनाने पर भी उन्होंने उसे अरबी-फारसी के शब्दों से बचाने का पूरा प्रयत्न किया। यद्यपि 'प्रेमसागर', के अतिरिक्त उन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी' 'शकुंतला नाटक', 'माधोनल' आदि ग्रंथ भी गद्य में ही लिखे हैं; परंतु अरबी-फारसी के शब्दों से बचने का जो प्रयत्न 'प्रेमसागर' में मिलता है वह इन अन्य ग्रंथों में नहीं। हाँ, संस्कृत के तत्सम शब्दों को भी इन्होंने सहर्ष अपनाया है। यही नहीं, भाषा खड़ीबोली रखने का निश्चय होने पर भी 'प्रेमसागर' में व्रजभाषा के रूपों की प्रधानता है। इसका कारण कदाचित इनका आगरा-निवासी होना हो।

इनकी भाषा में अरबी-फारसी के तत्सम शब्द ही नहीं, उर्दू के साधारण प्रचलित शब्दों का भी प्रभाव है। इससे भाषा में एक प्रकार की अस्वाभाविकता-सी आ गई है और वह गढ़ी हुई-सी जान पड़ती है। हाँ, बोलचाल की भाषा के ये

भाषा-रूप बहुत निकट हैं; यद्यपि 'हारा-थका' जैसे प्रचलित पद भी 'प्रेमसागर' में अधिक नहीं मिलते हैं। व्रजभाषा के शब्द-रूपों की तो इसमें प्रचुरता है, यथा, लिवाय, करवाय, खिलाय, ले जाय, सुख पाय, बुलाय के, तिनमें, बनाय आदि। संस्कृत के तत्सम शब्द भी इसमें पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिए अनेक प्रकार, मंदिर, सुंदर, कंचन, रत्न, आकांक्षा, वचन, मुख आदि चुने जा सकते हैं। व्रजभाषा के प्रयोग का एक कारण, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, इनका आगरा-निवासी होना है। दूसरी बात जिसने इन्हें व्रजभाषा के रूपों को अपनाने के लिए विवश कर दिया, वह है, विदेशी शब्दों से बचने की अभिलाषा। भाषा में अनुप्रास और तुकों की भी भरमार है। इनके प्रयुक्त होने का एक कारण तो व्रजभाषा-कविता में इनके अत्यधिक मात्रा में प्रयुक्त होने की परिपाटी हो सकती है और दूसरा विदेशी-प्रणाली का अंधानुसरण। गद्य में अनुप्रास का प्रचलन फारसी से अरबी और तब उर्दू में हुआ था। संभव है, लल्लूलाल जी इससे भी कुछ प्रभावित हुए हों। जो हो, इससे इतना तो मालूम ही होता है कि तत्कालीन हिंदी गद्य पद्य के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सका था—कम से कम लेखक ने उसकी इस मुक्ति के लिए

कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं समझी। मुहावरों का भी 'प्रेमसागर' की भाषा में अभाव ही समझना चाहिए। कहीं-कहीं दो-एक दिखाई दे जाते हैं लेकिन अन्यत्र इनका अभाव है। इन सब बातों को देखकर कहना ही पड़ता है कि लल्लूलाल ने अपने समय तक होनेवाले गद्य के विकास से लाभ नहीं उठाया। इस कथन का आशय यह नहीं है कि वे मुंशी सदासुखलाल या इंशाअल्ला खाँ की भाषा से लाभ उठा सकते थे, अथवा उनका अनुकरण कर सकते थे; प्रत्युत आशय यह है कि बोलचाल की भाषा में ही भावाभिव्यंजन की जो शक्ति आ गई थी, प्रचलित शब्दों और मुहावरों से बचने का प्रयत्न कर के उन्होंने स्वयं अपने को उससे वंचित रखा। यही नहीं, इनके कुछ शब्द-रूप अनिश्चित हैं और यत्र-तत्र व्याकरण के नियमों का भी दृढ़तापूर्वक पालन नहीं किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'प्रेमसागर' की भाषा में मधुरता अवश्य है, और कुछ वर्णन भी लेखक ने बहुत सजीव और संदर किए हैं, तथापि इसकी भाषा और शैली केवल कथा कहने के ही काम की है। न तो वह नित्य-प्रति के व्यवहार में ही आ सकती है और न उसमें गंभीर साहित्य की रचना ही की जा सकती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'चंद छंद बरनन

की महिमा' के लेखक गंगा भाट की जिस भाषा का नमूना हमें मिलता है, लल्लूलाल की भाषा भी उसी से मिलती-जुलती है। अंतर केवल इतना है कि सोलहवीं शताब्दी के उस लेखक ने विदेशी शब्दों को अपना कर गद्योपयोगी एक भाषा को जन्म दिया था और उन्नीसवीं शताब्दी के इस लेखक ने उनका बहिष्कार करके अपनी भाषा को अव्यावहारिक बना लिया।

(घ) सदल मिश्र (सन् १७६८ से १८४७ तक)

फोर्ट विलियम कॉलेज के दूसरे अध्यापक सदल मिश्र थे, जिनको गद्य की पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने की अधिकारियों ने आज्ञा दी थी। मिश्र जी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इन्होंने उक्त आज्ञा का पालन करने के लिए संस्कृत के 'नासिकेतोपाख्यान' नामक ग्रंथ के आधार पर यही नाम देकर एक ग्रंथ लिखा। इनकी भाषा में व्रजभाषा के पंडिताऊपन-सूचक तथा पूर्वीबोली के रूप, यथा 'इहाँ', 'तिस पर', 'बिसे', 'जौन-जौन', 'जाननिहारा', 'तिन की आज्ञा पाय', 'मतारी', 'बाजने लगी', आदि अवश्य मिलते हैं, परंतु उनकी वैसी प्रचुरता नहीं है जिनके कारण लल्लूलाल की भाषा पर दोष लगाया जाता है। तुकों और अनुप्रास से भी मिश्र जी ने

अपनी भाषा को यथासंभव बचाया ही है। परंतु लल्लूलाल की तरह अरबी-फारसी की छूत से बचने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। इन भाषाओं के साधारण प्रचलित शब्दों को तो उन्होंने अपनाया ही, साथ-साथ इंशाअल्ला खाँ ने भी अपनी 'रानी केतकी की कहानी' में मुहावरों का प्रयोग किया था, परंतु मिश्रजी की भाषा में प्रचलित मुहावरों के प्रयोग में एक नवीनता मिलती है। खाँ साहब के मुहावरे मुख्यतः उर्दू के हैं; इसके विपरीत, मिश्रजी ने ठेठ हिंदी के मुहावरों—विपत्ति काटना, मलीन होना, गिड़गिड़ा कर कहना आदि—का प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। व्याकरण के नियमों का पालन मिश्रजी ने कुछ अव्यवस्थित रूप से ही किया है। 'न' लगा कर बहुवचन भी उन्होंने बनाए हैं; जैसे, सबन, हाथन, कानन, प्रहसन, और 'न्ह' लगा कर भी जैसे 'सबन्ह', 'फूलन्ह', सोनन्ह', कोटिन्ह', 'बहुतेरन्ह', आदि। 'ओ' भी कुछ बहुवचन-रूपों में मिलता है जैसे, सबों, ब्राह्मणों, औरां, नरकों, सेवकों, आदि। 'वो' और 'औ' जैसे प्रयोग भी इनके ग्रंथ में मिलते हैं।

भाषा की दृष्टि से इनकी शैली के दो रूप हैं। एक की भाषा संस्कृत-प्रधान है और दूसरी में तद्भव और प्रांतीय शब्दों की प्रधानता है। कुछ साधारण व्यवहार में उपयोगी तद्भव और प्रांतीय शब्दों के

साथ 'आज्ञा', 'पुण्य', 'विचार', 'सावधान', 'कुकर्म', आदि संस्कृत के शब्द भी मिलते हैं। कलकत्ते में रहने के कारण इनकी भाषा पर बँगला का भी प्रभाव पड़ा था। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मिश्रजी की भाषा लल्लूलाल की भाषा की अपेक्षा प्रौढ़ और परिमार्जित है। शिथिलता और अस्थिरता भी उसमें कम ही है। संभव है, इसका कारण उनकी विद्वता और अध्ययन हो। कहीं-कहीं—नरक के विशद चित्र में—कला का प्रदर्शन करने की रुचि भी दिखाई देती है।

(ङ) आलोचना

उक्त चारों सज्जन ही प्रारंभिक हिंदी के लेखक हैं और उनकी भाषा से ही हिंदी गद्य की प्रगति के चिह्न मिलने लगते हैं। इन चारों लेखकों की भाषा में वाक्य-विन्यास, शब्द-चयन और विषय-प्रतिपादन शैली में जो अस्थिरता और भिन्नता लक्षित होती है, उससे स्पष्ट है कि उस समय भावाभिव्यक्ति का कोई एक स्थिर रूप नहीं था। सभी लेखक मनमाने ढंग अपना कर अपने भाव प्रकट करके काम निकाला करते थे। भाषा-संबंधी संस्कार और उद्देश्य की भिन्नता भी इसका कारण हो सकती है। इन चारों लेखकों ने एक दूसरे के गद्य का नमूना भी नहीं देखा था।

मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्लाखाँ तो दूर ही थे, लल्लूलाल और सदलमिश्र ने एक ही कालेज में रह कर भी कदाचित इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। दूसरी बात यह कि यद्यपि मुद्रण-कला का आरंभ उस समय हो गया और लल्लूलाल तो एक प्रेस के मालिक भी थे, तथापि उसका इतना विकास नहीं हुआ था कि इन लेखकों को एक दूसरे के ग्रंथ छपते ही देखने को मिल जाते। फलतः जिस स्थान पर जो भाषा प्रचलित थी वहाँ के लेखक ने उसी में अपने ग्रंथ लिखे। अध्ययन और रुचि का भी इनकी भाषा पर प्रभाव पड़ा।

इन लेखकों में से तीन—मुंशी सदासुखलाल, सदलमिश्र और लल्लूलाल—ने पूर्व लिखित ग्रंथों के आधार पर अपनी पुस्तकें लिखी थीं; केवल इंशा-अल्लाखाँ की कहानी उनकी निजी उपज थी। इस दृष्टि से यही सबसे मौलिक है। परंतु इनका अध्ययन अरबी-फारसी तक ही सीमित था। इनकी भाषा में संस्कृत शब्दों के रूप नहीं मिलते जिनका हिंदुओं की भाषा, खड़ीबोली में होना अनिवार्य था। दूसरी बात यह कि केवल मनोरंजन के लिए लिखी गई कहानी की चटपटी भाषा और फड़कती शैली गंभीर विषयों के योग्य नहीं होती। इसलिए खाँ साहब की एकांगी भाषा से हम यह आशा नहीं कर सकते थे

कि आगे इसका विकास होगा। हाँ, इसकी कुछ विशेषताएँ—यथा (१) अरबी - फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग (२) मुहावरों को अपनाकर भाषा को सजीव बनाना और (३) हास्य - विनोद का पुट देना—आगे के हिंदी लेखकों ने अवश्य अपनाईं।

लल्लूलाल की भाषा भी एक प्रकार से विकास के योग्य न थी। उन्होंने चतुर्भुजदास के अनुवाद का सार पाठ्य - पुस्तक रूप में अपने विद्यार्थियों के सामने रखा था। अतः उनकी भाषा प्राचीन काव्योपयोगी व्रजभाषा के बहुत अधिक समीप और असामयिक हो गई। इनकी पंडिताऊपन और अंत्यानुप्रास - युक्त शैली गंभीर विषयों के योग्य नहीं थी। इनके सहयोगी अध्यापक सदलमिश्र की भाषा भी इनसे परिमार्जित और प्रौढ़ है।

रह गए मुंशी सदासुखलाल और सदलमिश्र। इनकी व्यावहारोपयोगी खड़ी बोली तत्कालीन हिंदी - भाषाभाषियों की बोलचाल की शिष्ट बोली के निकट थी। संस्कृत के तत्सम और तद्भव दोनों शब्द - रूप भी इनकी भाषा में मिलते हैं। परंतु मुंशीजी की भाषा में अभी फारसी के प्रचलित शब्दों का जो बहिष्कार और विरोध था वह हिंदी - गद्य के स्वाभाविक विकास का बाधक था। मिश्रजी की भाषा में यह विरोध

इतना नहीं मिलता ; मुहावरों का प्रयोग करके उन्होंने अपनी भाषा की अभिव्यंजनाशक्ति बढ़ाने का प्रयत्न भी किया। परंतु शुद्ध, प्रौढ़ और परिमार्जित गद्य जितना मुंशीजी का है उतना मिश्रजी का नहीं। इसी से इन चार लेखकों में मुंशी सदासुखलाल का कार्य सर्वश्रेष्ठ समझा जाना चाहिए। उनके पश्चात् सदल मिश्र और तब लल्लूलाल का नाम आता है। इंशा अल्लाखाँ का प्रयत्न सराहनीय अवश्य था और उनकी भाषा की कुछ विशेषताएँ, जो ऊपर लिखी जा चुकी हैं, अपनाई भी अवश्य गईं ; परंतु वे जितने उर्दू के प्रारंभिक रूप के लेखक थे उतने हिंदी के नहीं। आगे भी उनकी शैली हिंदी के लेखकों ने अधिक नहीं अपनाई। उसमें बंधन और प्रयास इतना था कि साधारणतः वह अपनाई भी नहीं जा सकती थी। अतः हमारी समझ में वर्तमान शुद्ध खड़ीबोली के प्रारंभिक लेखकों में यदि उनका नाम रखा ही जाय तो मुंशी सदासुखलाल के बाद ही उन्हें स्थान मिलना चाहिए। तब सदल मिश्र और लल्लूलाल का स्थान क्रमशः तीसरा और चौथा हो जायगा।

इस विवेचना से एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि वर्तमान हिंदी गद्य के जन्मदाता जो लल्लूलाल माने जाते हैं, वह ठीक नहीं है। यह सत्य है कि मुंशी सदासुखलाल का 'सुखसागर' लल्लूलाल के

'प्रेमसागर' के पश्चात् प्रकाशित हुआ था; पर उसकी रचना का सूत्रपात्र स्वतंत्र रूप से और किसी अन्य की प्रेरणा के बिना ही हुआ था। लल्लूलाल और सदलमिश्र के द्वारा इस काल में जो मुख्य ग्रंथ लिखे गए उनकी रचना में फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता के अधिकारियों, विशेषकर डा० गिलक्रिष्ट का हाथ था—उन्होंने हिंदी गद्य में पुस्तकें लिखने के लिए इन हिंदी लेखकों को प्रोत्साहित अवश्य किया; परंतु इसके मूल में उनका निजी स्वार्थ था, हिंदी-सेवा का भाव नहीं। फिर भी, अप्रकट रूप से ही, उनके द्वारा हिंदी गद्य की जो सेवा हो गई, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

(च) ईसाइयों की हिंदी-सेवा

धर्म-प्रचार-कार्य को लेकर इसी समय ईसाई-पादरी भी हिंदी गद्य की उन्नति में सहयोग दे रहे थे। उन्हें यह ज्ञात हो गया था कि अधिकांश भारत-वासियों की व्यावहारिक भाषा प्रायः खड़ीबोली है। इसलिए इसी में उन्होंने अपने धर्म-प्रचार-कार्य के लिए बाइबिल का अनुवाद करना आरंभ किया। सन् १८०६ में विलियम केटे नामक पादरी द्वारा यह काम शुरू हुआ। इन्होंने बाइबिल का एक भाग 'नए धर्म-नियम' के नाम से प्रकाशित किया।

ईसाई धर्म-संबंधी कुछ अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित की गईं। इन सबका उद्देश्य भी ईसाई धर्म फैलाना ही था। सन् १८१८ तक बाइबिल का पूरा अनुवाद प्रकाशित कर दिया गया। इन ग्रंथों की भाषा ठेठ खड़ी बोली थी। इसकी विशेषता यह है कि इसमें ब्रजभाषा के रूपों का तो अभाव-सा है, पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। बोलचाल के ठेठ शब्द भी इसमें बहुत मिलते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधारण हिंदू जनता में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए ही ईसाई पादरियों ने ऐसी भाषा अपनाई थी। अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का भी बराबर इसमें प्रयोग किया गया है। जिस उद्देश्य को लेकर अपने कार्य में ईसाई पादरी प्रवृत्त हुए थे, उसकी पूर्ति के लिए ऐसा करना आवश्यक ही था। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि अरबी-फारसी को उन्होंने उसी सीमा तक स्वीकार किया जहाँ तक हिंदू-जनता को अपने भाव समझाने के लिए आवश्यक था; ईसाइयों ने अपने धर्म-ग्रंथों की भाषा में उनका उतना ही प्रयोग किया था। इसका एक कारण यह था कि वे अपने मत का हिंदुओं में ही सरलता से प्रचार कर सकते थे। अँगरेजों के प्रादुर्भाव के पहले जब पुर्तगालियों ने अपनी शक्ति बढ़ा कर मुसलमानों में

ईसाई धर्म का प्रचार करना चाहा था तब वे अपने प्रयत्न में बुरी तरह असफल हुए थे। यही नहीं, आगे चल कर पुर्तगालियों का मुसलमानों में धर्म-प्रचार-संबंधी प्रयत्न ही उनकी अवनति का एक कारण बन गया था। अँगरेजों ने इससे शिक्षा ली और समझ लिया कि अपने धर्म की कट्टरता में पले मुसलमानों में ईसाई धर्म फैलाने की गुंजाइश नहीं है। हिंदू एक तो स्वाभावतः धार्मिक सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध होते हैं; दूसरे, उस समय साधारण हिंदु-प्रजा की अवस्था दयनीय थी। इससे लाभ उठा कर, उन्हें आर्थिक प्रलोभन देकर, अपना धर्म फैलाने का लोभ ईसाई पादरी संवरण न कर सके। अपनी धर्म-पुस्तकों की भाषा जो अरबी-फारसी के अति प्रचलित शब्दों से युक्त हिंदुओं की व्यावहारोपयोगी ठेठ खड़ीबोली रखी, उसका यही कारण है।

बाइबिल के अनुवाद में 'करनी', 'बिमारी', 'अँगोछा', जैसे ठेठ खड़ीबोली के शब्द तो अवश्य हैं, परंतु 'भोजन', 'इच्छा', 'अनंत जीवन', 'आनंद', 'परमेश्वर', 'करुणा', 'कारण', 'प्रकाश', 'उदय', 'उत्तर', 'रीति', 'धर्म', 'तुरंत', 'जल', 'स्वर्ग', 'द्वार', 'ईश्वर', 'आत्मा', 'कपोत', 'आकाशवाणी', 'प्रिय पुत्र', आदि संस्कृत के तत्सम रूपों की ही प्रधानता है। 'मजदूरी' जैसा

एक-आध शब्द फारसी का भी मिलता है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि यह भाषा हिंदुओं की ही थी और इसका प्रचार बढ़ रहा था। परंतु एक प्रश्न यह होता है कि क्या ईसाई-पादरियों ने ही इस प्रकार की शुद्ध भाषा में अपने ग्रंथों के अनुवाद किए थे? हम तो यही समझते हैं कि किसी हिंदू विद्वान् को पैसा देकर ही यह अनुवाद-कार्य कराया गया होगा।

सारांश यह कि इन वर्षों में हिंदी गद्य की उन्नति के लिए तीन ओर से प्रयत्न किया गया—(१) स्वांतः सुखाय साहित्य-सेवा करनेवालों की ओर से, (२) शिक्षा-संस्थाओं की ओर से (३) ईसाई-धर्म प्रचारकों की ओर से। इन सब के सम्मिलित उद्योग से हिंदी गद्य की नींव तो अवश्य पड़ गई, हिंदी गद्य में ग्रंथ लिखने का मार्ग भी साहित्य-सेवियों को ज्ञात हो गया, परंतु इस कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न हिंदी-लेखकों ने नहीं किया। अतः, इस युग को हम हिंदी-गद्य की प्रगति का चिह्न-काल मात्र कह सकते हैं।

हिंदी गद्य का प्रस्तावना-काल

अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिंदी गद्य के भावी विशाल वृक्ष का बीजारोपण किया गया। तैयार भूमि में पड़ा हुआ सामान्य बीज शक्ति-संचय करके अंकुरित होने के लिए कुछ समय चाहता है। गद्य-वृक्ष का बीज भी प्रस्फुटित होने के लिए लगभग ५० वर्ष तक शक्ति-संचय करता रहा। थोड़ा बहुत कार्य जो इन ५० वर्षों में हुआ वह साहित्यिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय नहीं है। परंतु उसका संबंध पिछले काल के कार्य से अवश्य है। उस समय गद्य में लिखने का कार्य मुख्यतः तीन ओर से—१ स्वांतः सुखाय साहित्य-सेवा करनेवालों की ओर से, २—शिक्षा-संस्थाओं की ओर से और ३—ईसाई धर्म के प्रचारकों की ओर से आरंभ हुआ था। इनमें से अंतिम दो अर्थात् शिक्षा-प्रचार और धर्म-प्रचार—नैतिक रूप से आवश्यक थे। शिक्षा-प्रचार कार्य तो रुक ही नहीं सकता था, क्योंकि उसमें शासकों और शासितों दोनों का स्वार्थ था। धर्म-प्रचार का कार्य भी इसी प्रकार अनिवार्य होता जा रहा था। मूलतः ये सार्वजनिक कार्य थे। भाषा-शास्त्रियों का मत है कि सामान्यतः सार्वजनिक और जन-साधारण संबंधी

कार्यों की माध्यम रूप भाषा के गद्य का विकास तभी होता है जब उसे राजनीतिक, धार्मिक अथवा बड़े सामाजिक आंदोलन का सहारा मिल जाय। राजाश्रय मिलने पर भी भाषाओं की उन्नति होती देखी गई है, यद्यपि उसका संबंध प्रायः अन्य कारणों से भी रहता है। हिंदी गद्य को सौभाग्य से उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में ये सुविधाएँ प्राप्त हो गई थीं। शिक्षा-प्रचार के रूप में उसे राजाश्रय तो मिला, साथ ही, धार्मिक और सामाजिक आंदोलन के लिए भी जनता ने हिंदी गद्य को अपनाया। इस प्रकार शासकों और शासितों, दोनों की ओर से उसकी उन्नति के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रयत्न किया गया। इस समय तक भारत में मुद्रण-कला का आरंभ हो चुका था। इस वैज्ञानिक सुविधा ने गद्य की आवश्यकता भी सर्व साधारण को समझा दी और उसके साथ-साथ विकास में भी अपूर्व सहायता पहुँचाई। फलस्वरूप पुस्तकों का प्रचार बहुत होने लगा।

शिक्षा-प्रचार और हिंदी-गद्य

आरंभ में हिंदी के शिक्षा-संबंधी पाठ्य-ग्रंथों की भाषा का आदर्श ईसाइयों द्वारा व्यवहृत ग्रामीण शब्दों की प्रधानता लिए खड़ीबोली मानी गई। उर्दू

पढ़नेवाले लड़कों के लिए जो पुस्तकें तैयार की गईं उनकी भाषा में स्वभावतः अरबी और फारसी के शब्दों की प्रधानता थी। यह बात सन् १८३५ के लगभग की है, क्योंकि इसके तीन-चार वर्ष पहले से अँगरेजी स्कूल खुलने लगे थे और उनमें अँगरेजी के साथ-साथ हिंदी उर्दू की पढ़ाई का नियमित प्रबंध किया गया था। अँगरेजी को शिक्षालयों में स्थान मिलने की लंबी कहानी है। सन् १७९७ में चार्ल्स ग्रांट के समर्थन करने पर सब से पहले अँगरेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों ने विलायत से यह प्रस्ताव भेजा था कि अँगरेजी राज्यांतर्गत बसनेवाले भारतीयों को अँगरेजी की शिक्षा दी जाय। उस समय अँगरेजी राज्य की नींव पड़ चुकी थी; लेकिन वह इतनी दृढ़ नहीं थी कि शिक्षा की ओर इतना ध्यान दिया जाता। कुछ राजनीतिक कारण भी थे। इसलिए अँगरेज शासक यह उत्तरदायित्वपूर्ण भार अपने ऊपर लेने को तैयार न हुए और उक्त विचार स्थगित कर दिया गया। इसके कई वर्ष पश्चात् यह प्रस्ताव राजा-राम मोहनराय जैसे प्रतिष्ठित भारतवासियों द्वारा ही किया गया। फलतः कलकत्ते में अँगरेजी पढ़ाने के लिए एक हिंदू कॉलेज स्थापित हुआ। इसमें शिक्षा पानेवाले लोग ऊँचे पदों पर कंपनी में नौकर रखे जाने लगे।

धीरे-धीरे जनता लोलुप-दृष्टि से इस ओर देखने लगी।

इस समय तक शिक्षालयों में संस्कृत और अरबी की पढ़ाई पर भी ध्यान दिया जाता था। दोनों भाषाओं के शिक्षालय अलग-अलग थे। जनता इन भाषाओं का सम्मान करती थी और सरकार भी थोड़ी बहुत इन्हें आर्थिक सहायता देती थी। जब अँगरेजी की शिक्षा का प्रबंध हो गया तब जनता और सरकार, दोनों का ध्यान इन भाषाओं की शिक्षा की ओर से हटने लगा। व्यावहारिक दृष्टि से ये उनके काम की थीं भी नहीं और उस समय प्रश्न व्यावहारोपयोगी भाषा का ही छिड़ा हुआ था। फल यह हुआ कि संस्कृत और अरबी की शिक्षा संस्थाओं को जो सहायता और सुविधा प्राप्त थी वह धीरे-धीरे बंद हो गई। अब इन भाषाओं के पक्षपातियों को चेत हुआ। उन्होंने इसका पुनः सम्मान करने का प्रस्ताव पेश किया। परंतु इनके हाथ में प्रस्ताव पेश करना मात्र था; मानना न मानना शासकों के अधिकार की बात थी। शिक्षा के माध्यम और भाषा के प्रश्न पर बहुत समय तक विचार किया गया। अंत में ७ मार्च सन् १८३५ को मेकाले की कृपा से अँगरेजी को सर्वोच्च स्थान देने का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। अँगरेजी स्कूल खुलना वस्तुतः इसी समय से आरंभ होते हैं।

सन् १८३५ के लगभग आगरे और कलकत्ते में पादरियों ने एक-एक पुस्तक प्रकाशन संस्था 'स्कूल बुक सोसाइटी' के नाम से स्थापित की। इनका कार्य संभवतः जनता की प्रचारोपयोगी भाषा में पाठ्य पुस्तकें लिखवाकर प्रकाशित करना था। हिंदी गद्य में विविध विषयों के ग्रंथ लिखने का आरंभ इसी समय से होता है। इन सोसाइटियों ने बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित कीं। उनमें विविध विषयों की निम्नलिखित पुस्तकें उल्लेखनीय हैं—

संख्या	नाम	विषय	लेखक	सन्
(१)	इंगलैंड का इतिहास	इतिहास	*	१८३७
(२)	कथासार	,,	रतनलाल	१८३९
(३)	भूगोलसार	भूगोल	ओंकारनाथ भट्ट	१८४०
(४)	पदार्थ-विद्यासार	विज्ञान	*	१८४६
(५)	रसायन-प्रकाश	,,	बद्रीनाथ शर्मा	१८४७
(६)	पुष्प-वाटिका	(अनुवाद)	वंशीधर	१८५२
(७)	भारतवर्षीय इतिहास	इतिहास	वंशीधर	१८५६
(८)	जीविका परिपाटी	अर्थशास्त्र	,,	,,
(९)	जगत वृत्तांत	भूगोल	,,	१८५८

प्रकाशन के व्यवसाय में उस समय इन संस्थाओं को बड़ा लाभ हुआ। इसलिए आगरे और कलकत्ते की उक्त संस्थाओं की देखा-देखी कई प्रकाशन संस्थाएँ

और प्रेस खोले गए । इनमें इलाहाबाद का 'मिशन प्रेस' और मिर्ज़ापुर का 'आरफेन प्रेस' मुख्य हैं। इन प्रेसों ने कई रीडरों के अतिरिक्त सन् १८५५ से ६५ तक भिन्न विषयों की निम्न - लिखित पुस्तकें प्रकाशित कीं :—

संख्या	पुस्तक का नाम	विषय
(१)	जंतु-प्रबंध	विज्ञान
(२)	भूगोल - विद्या	भूगोल
(३)	भूचरित्र - दर्पण	,,
(४)	मनोरंजक वृत्तांत	कथा
(५)	विद्यासार	साहित्य
(६)	विद्वान् - संग्रह	,,

प्रायः इन सभी ग्रंथों की भाषा विशुद्ध हिंदी है जिस पर पंडिताऊ ढंग का भी यत्र - तत्र प्रभाव पड़ा है । उक्त ग्रंथों में ,—' अत्युत्तम व्यवस्था ', ' विरोध - भंजन ', ' पक्षपातियों ', ' क्रोध ', ' कुलीनों ', ' उपद्रव ' ' प्रजा ', ' पराक्रमी ', ' उपाधियों ', ' निष्कंटक ', 'बुद्धिमान' ' अग्रगण्य ' इत्यादि संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है ; कहीं - कहीं ' की ' और ' पाते ' के स्थान पर ' करी ' और ' पावतें ' आदि शब्द मिलते हैं । परंतु इन पुस्तकों से भाषा की व्यजंनाशक्ति बढ़ी हो सो बात नहीं है । हाँ , इतना अवश्य हुआ कि लोगों का ध्यान इन विषयों की ओर आकर्षित हो गया ।

साथ-साथ समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, न्याय, धर्म, चिकित्सा आदि अन्य विषयों से भी शिक्षित वर्ग का परिचय हुआ। इन नवीन विषयों की पुस्तकें लिखने का प्रयत्न उस समय इस कारण नहीं हो सका कि यह कार्य पादरियों तक पहुँच सकनेवालों में ही सीमित था। फिर भी मार्ग-प्रदर्शन का कार्य तो पादरियों की कृपा से हुआ ही और इस तरह हिंदी गद्य की प्रगति का मार्ग भी खुला।

यहाँ एक बात और स्पष्ट करना है। हिंदी-गद्य के इतिहास लेखकों ने लगभग ५५ वर्ष के जिस काल को, सन् १८०३ से सन् १८५१ तक, हिंदी-गद्य से शून्य माना है। यह ठीक है कि साहित्यिक गद्य रचनाओं की दृष्टि से इन ५५ वर्षों में कुछ भी काम नहीं हुआ; परंतु दो कार्य इन वर्षों में हिंदी संबंधी ऐसे हुए हैं जिनसे उसकी भावी प्रगति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पहली बात यह थी कि राज-क्षेत्र से बाहर रहने वाले हिंदी-प्रेमियों को हिंदी के प्रति शासकों और शासितों की मनोवृत्ति का पूर्ण और स्पष्ट परिचय मिल गया। उन्हें ज्ञात हो गया कि ऐसी स्थिति में मातृ-भाषा हिंदी का भयंकर अहित होने की संभावना है। सन् १८६० के पश्चात् हिंदी की उन्नति के लिए घोर प्रयत्न किया गया। सन्

१८६० से १९०० तक जो पचासों लेखकों ने हिंदी प्रचार के नारे लगाए और अपने विचारों को कार्य रूप देने के लिए तन-मन-धन अर्पण किया — वह इसी चेतना और सावधानी का परिणाम समझना चाहिए। दूसरी बात हिंदी के रूप से संबंध रखती है। अब तक हिंदी के रूप को लेकर जो झगड़ा हो रहा था वह 'ब्रजभाषापन', 'पूर्वीपन' और 'ग्रामीण तथा पंडिताऊपन' आदि से संबंध रखता था। अब लोगों का ध्यान इस पनों से हट कर उर्दू (अरबी और फारसी) के शब्दों की ओर गया। भाषा की शुद्धता के विचार का मान ही बदल गया। सारांश यह कि इन ५० वर्षों में हिंदी की उन्नति के लिए जनता की ओर से स्वांतःसुखाय प्रयत्न न होने पर भी विविध विषयों की पुस्तकों की रचना ने गद्य की उन्नति के लिए भूमि अवश्य तैयार की। बीज में अंकुर निकलने के पूर्व का यह काल हिंदी-गद्य के इतिहास में बड़े महत्व का है। बीज की रक्षा का प्रश्न इस समय बड़ा कठिन होता है। हर्ष की बात यह है कि शिक्षा-वर्ग के कुछ अधिकारियों की देख-रेख में पूर्वांकुरकाल में हिंदी-गद्य का बीज सुरक्षित रह सका और सन् १८६० के लगभग अंकुरित होते ही उसने बड़ी शीघ्रता से, केवल ४० वर्षों के अंदर ही होनहार पौधे का रूप ही नहीं

धारण किया, प्रत्युत अपने भावी विस्तार और ऊँचाई का परिचय भी दे दिया। अस्तु।

नगरों में शिक्षा देने का प्रबंध उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही किया जाने लगा था। कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज इसी लिए खोला भी गया था। इस संस्था के लिए पाठ्य-ग्रंथ हिंदी और उर्दू दोनों में ही तैयार किए जाते थे। सन् १८३५ में इस कालेज के टूटने तक कलकत्ते में यही क्रम किसी न किसी रूप में चलता रहा। संयुक्त प्रांतीय नगरों में यह क्रम पहले ही स्वीकार किया जा चुका था और सन् १८३५ से तत्संबंधी पाठ्यग्रंथ भी, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, बनने लगे थे और सन् १८५० तक इनकी संख्या बहुत बढ़ गई थी। इस समय नगरों में उर्दू तो सभी मुसलमानों की भाषा थी; पर तब हिंदू-हिंदी नहीं पढ़ते थे। बड़तों ने मुगलकाल से ही फारसी पढ़नी शुरू कर दी थी। अँगरेजों की शक्ति बढ़ जाने के समय जो नगर नए बसे उनमें ऐसे हिंदुओं की संख्या कम ही थी जो फारसी के विद्वान थे; क्योंकि ये स्थान मुख्यतः व्यवसायिक केंद्र थे और व्यवसाइयों से ही बसे थे। सन् १८३७ में उर्दू अदालती भाषा बनाई गई। बात यह थी कि राज-भाषा के अतिरिक्त एक ऐसी भाषा की भी शासकों और शासितों को आवश्यकता थी जिसके द्वारा पारस्परिक

संबंध अधिक बढ़ सके और छोटे-मोटे दरबारी काम भी हो सकें। अँगरेज अधिकारी अपने संपर्क में आने-वाले लोगों, खानसामों, मुंशियों और दरबारी काम करनेवाले को उर्दू का व्यवहार करते देखते थे। इसलिए उन्होंने उर्दू को ही दरबारी भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। दूसरी बात यह थी कि कर्नाटक, हैदराबाद, बंगाल, अवध आदि के लोगों से ही आरंभ में अगरेजों का अधिक संबंध रहा। इन सभी स्थानों के शासक मुसलमान थे और इनके यहाँ उर्दू जाननेवाले लोगों को ही दरबारी ओहदे मिले हुए थे। ऐसी स्थिति में उनका उर्दू को ही दरबारी भाषा के रूप में स्वीकार कर लेना अस्वाभाविक नहीं था। कुछ आलोचकों का मत है कि उर्दू को यह पद राजनीतिक उद्देश्य से दिया गया था। कारण जो कुछ भी हो, पर सन् १८३७ में उर्दू को वही पद दे दिया गया जो मुगल-काल में फारसी को प्राप्त था। अतः जिस प्रकार उस समय लोग दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विवश होकर फारसी पढ़ने लगे थे, उसी प्रकार इस बार उन्हें उर्दू पढ़नी पड़ी। उनके बालक भी हिंदी के स्थान पर उर्दू पढ़ने पर विवश किए जाने लगे। सवाल रोटी का था; बेचारे मरते क्या न करते। अदालतों में अँगरेज ही अधिकारी थे। इनसे उन्हीं का संपर्क बढ़ सकता था जो अँगरेजी जानते हों और

अदालत में काम तब चल सकता था जब वे उर्दू पढ़ते। जनता इन्हीं लोगों का सम्मान करती थी और यही लोग वास्तव में शिक्षित समझे जाते थे। इसलिए नए बसे नगरों के हिंदी के प्रचार-कार्य पर इससे बड़ा धक्का पहुँचा और उर्दू का प्रचार दिन प्रति अँगरेजों के साथ-साथ बढ़ने लगा। इस समय उसकी स्थिति उस माता की तरह थी जिसको बल-प्रयोग से वश में करके जिसकी बालिका को अपनी 'सवत' के रूप में स्वीकार करने पर विवश किया गया हो। सबसे दुख की बात हिंदी के लिए यह थी कि उसे मातृ-भाषा कहनेवाले लोग भी उसे भूलने, छोड़ने और उसका निरादर करने पर विवश किए गए। हिंदी भाषा-भाषियों के लिए जीवकोपार्जन का हेतु उर्दू पढ़ना मात्र ही आवश्यक नहीं हो गया था, हिंदी का अपमान करना भी अनिवार्य समझा जाने लगा था। सभ्य समाज में हिंदी-भाषा-भाषी बनना हास्यास्पद था और इसलिए घर में हिंदी पढ़ने और बोलने वाले भी घर के बाहर हिंदी पढ़ने और बोलने वालों की हँसी उड़ाया करते थे।

तीन चार वर्ष बाद ही एक दूसरा आघात हुआ। सन् १८४४ में सर चार्ल्स उड ने गाँवों और कसबों में शिक्षा-प्रचार की योजना बनाई। नगरों में तो अब तक मेकाले की कृपा से अँगरेजी माध्यम बना

कर स्कूल और कॉलेज खुल चुके थे, पर गाँवों और कसबों में शिक्षा का माध्यम देशी भाषा रखना ही निश्चित किया गया। अब प्रश्न यह हुआ कि खड़ी बोली के देशी रूप द्वारा, जो हिंदी के नाम से प्रसिद्ध था, शिक्षा दी जाय अथवा उसके विरोधी रूप द्वारा जिसे उस समय लोग 'उर्दू' संज्ञा दे चुके थे। पिछली का अधिकार केवल इतना ही था कि कुछ कारणों से—जिनमें राजनीतिक दूर-दर्शिता भी संभवतः एक प्रधान हेतु के रूप में थी—नए नगरों में उसे अदालती भाषा बनने का सौभाग्य मिल गया था; यद्यपि न उसमें निज का साहित्य था और न निजी शब्द-भंडार ही। परंतु हिंदी तो गाँव में बसने-वाले हिंदू और मुसलमान, दोनों की ही बोल-चाल की भाषा थी। प्राचीन पद्य साहित्य भी उसका इतना महत्व-पूर्ण था कि उसी के बल पर वह संसार की किसी भी साहित्यिक भाषा के काव्य-साहित्य से समता कर सकती थी, यद्यपि यह सत्य है कि अँगरेजों को उस समय इसका पूरा-पूरा पता न था। हाँ, नागरी लिपि की सरलता और वैज्ञानिकता से थोड़ा बहुत वे अवश्य परिचित हो चुके थे। इस प्रकार स्थिति यह हो गई थी कि हिंदी के बिना तो शिक्षाकार्य हो ही नहीं सकता था और उर्दू को अधिकारी वर्ग छोड़ना नहीं चाहता था। फलतः शासकों और शासितों, दोनों

के दो दल हो गए; एक उर्दू के पक्ष में और दूसरा हिंदी के। इन दलों ने शिक्षा के माध्यम को लेकर जो पारस्परिक विरोध करना आरंभ किया उसने हिंदी गद्य की उन्नति में परोक्ष रूप से योग दिया। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह इसी समय कार्य-क्षेत्र में आते हैं। दोनों महाशय थे तो हिंदी के शुभचिंतक ही, परंतु भाषा-रूप-संबंधी आदर्श की भिन्नता के कारण आगे चल कर दोनों में मत-भेद हो गया। दूसरे शब्दों में आदर्श तो दोनों का यही था कि हिंदी की उन्नति हो, परंतु इसके लिए उन्होंने भिन्न मार्ग अपनाया। एक उद्देश्य होते भी जो ये एक दूसरे के विरोधी हो गए उसका यही प्रधान कारण है।

राजा शिवप्रसाद (सन १८२३ से १८९५)

हिंदी और उर्दू की जिस स्थिति का ऊपर दिग्दर्शन कराया गया है उससे स्पष्ट होता है कि शिक्षाधिकारियों को उस समय देना तो चाहिए था हिंदी को उच्च-पद पर व्यावहारिक रूप से माना गया उसे उर्दू के बराबर। स्वभाव से संतोषी और भाग्यवादी हिंदी-भाषा-भाषियों को इस पर भी किसी तरह की आपत्ति न हुई; परंतु उर्दू के पक्षपातियों ने 'धार्मिक भाषा', 'गँवारू बोली', 'मुश्किल जबान' कह कर

हिंदी का विरोध करना आरंभ किया। यह हिंदी का सौभाग्य ही था कि ऐसी स्थिति में सन् १८५६ में हिंदी-प्रेमी राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग के इंसपेक्टर बनाए गए। राजा साहब सन् १८४५ से हिंदी उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे और उस वर्ष उन्होंने काशी से 'बनारस अखबार' नामक पत्र हिंदी में प्रकाशित किया था। इस पत्र की भाषा को अरबी-फारसी-प्रधान बताया जाता है और कहा जाता है कि इसमें लिपि केवल देव-नागरी थी। अपने मत की पुष्टि के लिए आलोचकों ने 'बनारस अखबार' का यह अवतरण दिया है—

यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब फिट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं की मदद से बनता है उनका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है। ×××देखकर लोग उस पाठशाले के किटे के मकानों की खूबियाँ अक्सर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजबीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरफ से लायक तारीफ के है। सो यह सब दाताई साहब ममदूह की है।

हम समझते हैं कि इस अवतरण की प्रामाणिकता पर हमारे आलोचकों ने विचार नहीं किया। कारण

पष्ट है । सन् १८५४ की सर चार्ल्स उड की स्कीम
पश्चात् इन्होंने जिस हिंदी भाषा के शुद्ध रूप
स्वयं अनेक ग्रंथ लिखे और दूसरों से लिखवाए
ह अपनी भाषा में अरबी — फारसी को इतनी
धानता कदापि नहीं दे सकता । यह हो सकता है
'पाठशाला' वाला उक्त अवतरण 'बनारस
खबार' के ही किसी अंक से लिया गया हो,
ंतु इसे हम राजा शिवप्रसाद का लिखा नहीं कह
कते । यदि कोई सज्जन ऐसा मानने के लिए तैयार
हो जायँ तो उक्त अवतरण को लेकर राजा साहब
भाषा-सिद्धांत के विषय में कुछ कहना सर्वथा
नुचित होगा, क्योंकि इस समय उन्होंने निरुद्देश्य
भाषा के उक्त रूप को अपनाया होगा ।

सन् १८५६ में इंसपेक्टर होने पर उन्होंने हिंदी
पाठ्य पुस्तकें बनानी और बनवानी आरंभ कीं ।
की भाषा उर्दू-रहित बहुत सरल ठेठ हिंदी है
समें संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द पर्याप्त
त्रा में प्रयुक्त हुए हैं । 'राजा भोज का सपना'
भाषा ऐसी ही है । इसके कुछ समय पश्चात्
खे 'मानव धर्म-सार' नाम की पुस्तक की भाषा
संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक
हुआ है । 'राजा भोज का सपना' (सन् १८५८)
भाषा विशुद्ध हिंदी है । इसमें संस्कृत के तत्सम

शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। फारसी और अरबी के तत्सम शब्दों का नितांत अभाव है। हाँ, 'इरादा दाग, दर्ज, जबान, आफत, मुल्क, तमाशा, खुशामद, जुल्म, तहकीकात, दुरुस्त, अर्से आदि प्रचलित शब्द इस पुस्तक में अवश्य मिलते हैं। गद्य-भाषा के विकास की दृष्टि से वर्तमान साहित्यिक गद्य का यह सब से प्राचीन और निकटतम रूप समझना चाहिए। 'दमयंती की कथा' और 'मानव धर्म-सार' आदि राजा साहब के निबंधों की भाषा भी ऐसी ही है।

परंतु सन् १८६० के पश्चात् राजा शिवप्रसाद हिंदी-भाषा के इस विशुद्ध रूप के स्वयं विरोधी हो गए। इसका कारण यह है कि राजा साहब समस्त देश में एक ही लिपि और एक ही भाषा का प्रचार चाहते थे। मुसलमान शुद्ध हिंदी को अपनाने के लिए उस समय तैयार न थे — अब भी नहीं हैं। मुसलमानों की इस हठ-धर्मी का कारण राजा साहब की सम्मति में तत्कालीन परिस्थिति थी। इस संबंध में उन्होंने लिखा है — शुद्ध हिंदी चाहने वाले को हम यह यकीन दिला देना चाहते हैं कि जब तक कचहरी में फारसी हरफ जारी हैं इस देश में संस्कृत शब्दों को जारी रखने की कोशिश बेफायद होगी। अपने इसी निश्चय को सामने रख कर

राजा साहब ने सोचा कि यदि भाषा में उर्दू शब्दों का पर्याप्त मिश्रण रहे तो मुसलमानों को उसके अपनाने में कदाचित आपत्ति नहीं होगी। दूसरी बात, संभव है उन्होंने यह भी सोची हो कि ऐसा होने पर उर्दू स्वतंत्र भाषा न रह जायगी और सर्वत्र हिंदी का प्रचार हो जायगा। अतः सन् १८६० के पश्चात् उन्होंने जो पुस्तकें लिखीं अथवा लिखाईं उनकी भाषा उन्होंने अरबी-फारसी-प्रधान रखी। व्यावहारिक भाषा में अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्द अवश्य आएँगे, परंतु ये शब्द गिने-चुने और प्रचलित ही होने चाहिए। सन् १८६० के पश्चात् राजा साहब ने अपने लिखे ग्रंथों में अरबी-फारसी के दो-एक शब्द न रख कर उनकी प्रधानता कर दी है। अपने पूर्व ग्रंथों में संस्कृत शब्दों का जिस अनुपात में उन्होंने प्रयोग किया है प्रायः उसी अनुपात में उन्होंने विदेशी शब्द रखे हैं। पूर्व ग्रंथों के 'संध्यावंदन,' 'प्रभाव', 'स्तुति', 'वंदना,' 'विनती प्रार्थना,' 'ईश्वर' 'सत्य,' दीनबंधु,' 'शुद्ध हृदय,' 'निष्कपट,' 'नम्रता,' 'श्रद्धा,' 'दुष्कर्म,' 'पश्चाताप' आदि अनेक संस्कृत शब्द जितनी पंक्तियों में आए हैं, उतनी ही पंक्तियों में, 'जबान,' 'कदर,' 'कायम,' 'बाकी,' 'बेहतर,' 'दरवाजा,' 'हमेशा,' 'बेशक,' 'लफ्ज' 'मुल्क,' 'दुनिया,' 'मूजिब,' 'नुकसान,'

'मुनासिब,' 'पुश्त,' 'दर्मयान,' आदि अरबी - फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है। विदेशी शब्दों से इतनी लदी भाषा को जो हम हिंदी कह कर पुकारते हैं उसका कारण बीच - बीच में प्रयुक्त व्याकरण, भूमियों, असंभव, मनुष्य, धारा आदि दो चार संस्कृत शब्दों का प्रयोग है। दूसरी बात यह है कि उन्होंने भाषा के केवल बाह्यरूप में ही परिवर्तन किया ; आंतरिक रूप प्रायः पूर्ववत ही बना रहा—कारक - चिह्न, विभक्तियाँ तथा क्रिया - रूप उनकी भाषा में हिंदी के ही है। अतः यदि हम इसमें प्रयुक्त उक्त विदेशी शब्दों के स्थान पर शुद्ध हिंदी के पर्यायवाची शब्द रख दें तो अपने ठेठ वाक्य - विन्यास के कारण इनकी भाषा का नमूना भी शुद्ध हिंदी का ही हो जायगा। व्यावहारिक स्वाभाविकता की दृष्टि से भी यदि हम उनकी भाषा के दोनों रूपों की तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि उनके संस्कृत - प्रधान गद्य में जो प्रवाह है वह विदेशी शब्द - प्रधान गद्य में नहीं। कारण स्पष्ट है। राजा साहब केवल उन लोगों की भाषा का विरोध करना चाहते थे जो फारसी के प्रचलित शब्दों के स्थान में भी संस्कृत शब्द रखना आवश्यक समझते थे—

Who always urge the exclusion of Persian words, even those which have become our household words from Hindi books and

use in there stead Sanskrit words quite out of place and fashion.

अँगरेजी की ये पंक्तियाँ राजा शिवप्रसाद ने 'इतिहास तिमिर नाशक' भाग २ की भूमिका में सन् १८६४ में लिखी थी। हम समझते हैं कि राजा साहब के इस कथन से सभी सहमत होंगे। यही बात उन्होंने 'भाषा का इतिहास' नामक निबंध में इस प्रकार लिखी है—

हम लोगों को जहाँ तक हो सके चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए जो आम-फहम और खास पसंद हों। × × × और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज गैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नए-नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए; जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की जरूरत न साबित हो जाय।

राजा साहब के इस कथन से भी अधिकांश हिंदी प्रेमी सहमत होंगे; परंतु स्वयं राजा साहब की भाषा 'आम-फहम' और 'खास-पसंद' नहीं है। उन्होंने अपने अंतिम ग्रंथों में अरबी-फारसी के जिन शब्दों का प्रयोग किया है उनसे हिंदू तो क्या साधारण पढ़े लिखे मुसलमान भी उसी प्रकार

अपरिचित होंगे जिस प्रकार संस्कृत-प्रधान भाषा से साधारण हिंदू-समाज आज भी अपरिचित बना हुआ है। इसी प्रकार राजा शिवप्रसाद की भाषा का उस समय प्रचार नहीं हुआ, यद्यपि उनका उद्देश्य अत्यंत पुनीत था। फिर भी हिंदी-गद्य के विकास की दृष्टि से इनकी भाषा को हम बहुत कुछ महत्व इसलिए दे सकते हैं कि इन्होंने सब से पहले एक हिंदी-हितैषी के नाते कई नवीन विषयों के ग्रंथ लिखने-लिखाने का सराहनीय प्रयत्न किया। देश, समाज, जाति, भाषा की जागृति-विषयक लेखों का आरंभ भी प्रायः उन्होंने ही किया था। यद्यपि, भाषा के रूप के कारण उनका विरोध अवश्य किया गया था—विरोधियों में राजा लक्ष्मणसिंह मुख्य थे—तथापि अनेक ग्रंथ लिख-लिखा कर हिंदी-गद्य के विकास में इन्होंने जो सहयोग दिया उसे विशेष आदर की दृष्टि से देखना ही होगा।

राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६ से १८९६)

राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत, प्राकृत, व्रजभाषा, अँगरेजी, फारसी, अरबी, बँगला तथा गुजराती भाषाओं का अध्ययन किया था। परंतु हिंदी भाषा के गद्य-रूप के संबंध में उनके विचार आरंभ से ही स्थिर थे। राजा शिवप्रसाद की संस्कृत-प्रधान भाषा

के ये पक्षपाती थे; परंतु सन् १८६० के लगभग जब उन्होंने भाषा-संबंधी अपनी नीति बदली तब इन्होंने अपने मत की पुष्टि और रुचि के अनुसार शुद्ध हिंदी का प्रचार करने के लिए सन् १८६२ में "प्रजा-हितैषी" नामक पत्र आगरे से प्रकाशित किया। इस पत्र में इन्होंने संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटककार कालि-दास के सर्वश्रेष्ठ नाटक का हिंदी गद्य में अनुवाद किया। सन् १८६३ में यह पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद का बड़ा आदर हुआ। भारत में ही नहीं, बाहर भी सर्वत्र इसकी बड़ी प्रशंसा हुई। सन् १८७५ में फ्रेडरिक पिनकाट नामक अँगरेज ने इँगलैण्ड में इसे प्रकाशित किया और कई वर्ष तक यह सिविल सर्विस की परीक्षा में पाठ्य पुस्तक नियत रहा। 'शकुंतला' के पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के 'रघुवंश' का अनुवाद किया। इनकी भाषा के संबंध में राजा साहब के उन विचारों से कुछ प्रकाश पड़ता है जो उन्होंने 'रघुवंश' के गद्या-नुवाद की भूमिका में इस प्रकार प्रकट किए हैं:—

हमारे मत में हिंदी उर्दू दो न्यारी-न्यारी बोली हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिंदुओं के बोलचोल की भाषा है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं; उर्दू में अरबी फारसी के। परंतु

कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी फारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हों।

राजा साहब अपने इस सिद्धांत पर दृढ़ रहे। उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुंतल' 'रघुवंश' और 'मेघदूत' का शुद्ध हिंदी अनुवाद किया है। इन तीनों ही ग्रंथों की भाषा प्रायः एकसी है। साधारणतः वह राजा शिव-प्रसाद के पिछले ग्रंथों की भाषा के तो विरुद्ध है परंतु पूर्व ग्रंथों की भाषा के अत्यंत निकट है। इसे उसका विकसित रूप भी कह सकते हैं। इसकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि राजा लक्ष्मणसिंह ने हिंदी के विशुद्ध रूप को अपनाकर भी अपनी भाषा को इतना संस्कृत प्रधान नहीं बनाया कि वह बोझिल और अनुपयुक्त हो जाय। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का आवश्यकतानुसार ही इन्होंने प्रयोग किया है। इससे भाषा में सरलता, सरसता और प्रवाह के साथ-साथ स्वाभाविकता भी आ गई है। 'छिन' 'तौ' 'पत्याता' 'अनारी' आदि कटुता रहित शब्द भी उसमें मिलते हैं जो इनकी भाषा पर व्रजभाषा के प्रभाव के द्योतक हैं। राजा साहब व्रजभाषा-प्रांत के रहने वाले थे। कदाचित् उक्त प्रभाव का यही कारण है।

इस भाषा के संबंध में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि इसमें अरबी फारसी के शब्दों का —तत्सम ही नहीं, तद्भव शब्दों का भी—अभाव है। इसका कारण यही है कि राजा साहब फारसी अरबी के शब्दों से रहित हिंदी भाषा लिखकर दिखा देना चाहते थे। यों राजा साहब की भाषा का उक्त विविध विशेषताओं के कारण विशेष सम्मान है परंतु व्यवहारिक दृष्टि से इसमें सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें जन-साधारण में प्रचलित शब्दों को भी स्थान नहीं दिया गया है। शब्दों के अपरिष्कृत प्राचीन रूपों को देखकर राजा साहब की भाषा में कुछ और दोष दिखाए गए हैं। हम उन्हें विशेष महत्व नहीं देते। हमारी सम्मति में तो राजा साहब ने ऐसी भाषा के क्रमशः विकसित रूप को पाठकों के सामने रखा है। जब हम देखते हैं कि आगे चलकर इसी भाषा के परिष्कृत रूप को साहित्यिक गद्य का पद प्राप्त हुआ तब हमें राजा साहब की भाषा का महत्व स्पष्ट ज्ञात हो जाता है और उनकी भाषा प्राचीन तथा नवीन गद्य भाषा का संबंध जोड़ती जान पड़ती है।

पंजाब में शिक्षा-कार्य

कलकत्ते और संयुक्त-प्रांत में शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ हिंदी गद्य की प्रगति हो रही थी, उसी

के अनुरूप कार्य पंजाब में भी हो रहा था। अंतर केवल इतना ही था कि कलकत्ते और संयुक्तप्रांत में तो अधिकारियों की कृपा से उर्दू अपनी जड़ मजबूत बनाने लगी थी, परंतु पंजाब में उसको अपने पैर फैलाने का अवसर उतनी सरलता से नहीं मिला। पंजाब में उन दिनों उर्दू के पक्षपातियों की कमी नहीं थी। वे लोग बड़ी तत्परता से अपनी भाषा का प्रचार करने में संलग्न थे। साधारणतः अप्राकृतिक कार्यों की प्रतिक्रिया उतनी ही तीव्रता से होती है। यही बात यहाँ भी हुई। उर्दू के प्रति उसके बोलनेवालों का पक्षपात जितना ही बढ़ता गया, हिंदी भाषा-भाषियों में हृदयों में मातृ-भाषा प्रेम उतने ही वेग से बढ़ने लगा। अंत में शिक्षा-प्रचार को लेकर हिंदी और उर्दू का विरोध स्पष्ट रूप से सामने आया।

बाबू नवीनचंद्र राय

हिंदी के पक्षपातियों में सब से प्रसिद्ध नाम बाबू नवीनचंद्र राय का है। संयुक्तप्रांत के राजा शिव-प्रसाद की तरह पंजाब के शिक्षा-विभाग में ये भी अधिकारी थे। अतः शिक्षा-प्रचार, स्त्री-शिक्षा आदि में तो इनकी रुचि स्वाभाविक थी ही; समाज-सुधार के कार्यों में भी ये बराबर भाग लिया करते थे।

ईसाइयों का धर्म-प्रचार बढ़ने पर इन्होंने उसका भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से विरोध किया और बंगाल में प्रचलित राजा राममोहन राय के ब्रह्म-समाज के आदर्श और सिद्धांतों का वहाँ प्रचार किया। इन दोनों कार्यों—शिक्षा-प्रचार और ब्रह्म-समाज-सिद्धांत-प्रचार—के लिए इन्होंने अनेक पत्र-पत्रिकाएँ हिंदी में प्रकाशित कीं। 'ज्ञान-प्रदायिनी-पत्रिका' उन्होंने मार्च सन् १८६७ में प्रकाशित की थी। ज्ञान-वर्धक सामग्री के अतिरिक्त इसमें उक्त दोनों उद्देश्यों से संबंधित लेख भी रहते थे। इस कार्य के अतिरिक्त सन् १८६३ में इन्होंने विभिन्न विषयों की अनेक पुस्तकें हिंदी में तैयार कीं—कराईं। यह काम १७-१८ वर्ष—लगभग १८८० तक—होता रहा। शिक्षा-विभाग में इन पुस्तकों का बड़ा आदर हुआ और तत्कालीन शिक्षालयों में ये कई वर्ष तक पाठ्य-ग्रंथों के रूप में पढ़ाई गई थीं।

बाबू नवीनचंद्र की पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की भाषा शुद्ध हिंदी थी। उर्दू को ये देश के लिए अनुपयुक्त और अनुपयोगी समझते थे। इसलिए अपनी भाषा को इन्होंने उसके प्रभाव से सदैव बचाने का प्रयत्न किया। इनकी भाषा में 'प्रचलित' 'व्यर्थ', 'पद्य', 'छंदोबद्ध', 'रचना', 'उपयुक्त', 'कर्तव्य', 'परंपरागत' 'उन्नति', 'अतिरिक्त', 'गंभीर', 'व्यक्त' आदि संस्कृत के

अनेक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है। साथ ही, 'खास' 'आशिकी आदि साधारण प्रचलित शब्द भी इसमें प्रयुक्त हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि नवीन बाबू ने धार्मिक पक्षपात से नहीं, केवल 'उपयुक्तता' को सामने रखकर शुद्ध भाषा लिखी थी।

भाषा की व्यंजना-शक्ति बढ़ाने का भी इन्होंने प्रयत्न किया। शिक्षा से संबंध रखनेवाले विषयों के अतिरिक्त इन्होंने तथा इनके सहयोगियों ने धर्म, नीति, न्याय, वेदांत जैसे गूढ़ और गंभीर विषयों पर पुस्तकें लिखी थीं। विषय-प्रतिपादन और भाषा-शैली की दृष्टि से ये सफल और सुंदर समझी जाती थीं। सारांश यह कि नवीन बाबू ने स्वयं तो हिंदी प्रचार-प्रसार के लिए सराहनीय उद्योग किया ही, साथ ही, अनेक हिंदी-प्रेमी पैदा कर पंजाब में इस कार्य के सतत होते रहने का भी प्रबंध कर दिया।

पंडित सुखदयालु शास्त्री

बाबू नवीनचंद्रराय के हिंदी-प्रेमी सहायक मित्रों और लेखकों में पंडित सुखदयालु शास्त्री का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये पंजाब के प्राच्य महा-विद्यालय में अध्यापन कार्य करते थे। बाबू नवीनचंद्र की हिंदी-प्रीति से प्रभावित होकर इन्होंने भी कुछ ग्रंथ हिंदी में लिखे थे। 'न्याय-बोधिनी' नामक इनकी एक

पुस्तक का जनता में बड़ा सम्मान था। भाषा के रूप की दृष्टि से भी ये नवीन बाबू के ही समर्थक थे। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता इनके शुद्ध हिंदी-संबंधी प्रयत्न की द्योतक है। विन्यास की दृष्टि से इनकी भाषा में थोड़ी शिथिलता भी है। परंतु संस्कृत-शब्दावली अपनाकर भी पंडिताऊ शैली से उसे मुक्त रखने में ये सफल हुए। अपने अनेक पण्डितों के सामने हम आज भी इनकी भाषा रख सकते हैं।

आलोचना

उक्त आलोचना का सारांश यह है कि सन् १८२५ से शिक्षा-प्रचार के प्रश्न को लेकर कलकत्ते से पंजाब तक हिंदी प्रचार का प्रयत्न किया गया। उर्दू-भाषा-भाषियों ने सभी-स्थानों पर उसका शक्ति भर विरोध किया और अधिकारियों के कृपापात्र होने के कारण उन्हें अनेक स्थानों पर अपने प्रयास में सफलता भी प्राप्त हुई। तब भी हिंदी-प्रचार-कार्य कहीं रुका नहीं। हम तो यह देखते हैं कि इस विरोध ने शांति-प्रिय हिंदी-प्रेमियों को जो उर्दू का भी सम्मान करते थे, अपनी भाषा का पक्षपात करने पर विवश किया। हिंदी-भाषा की उन्नति के शुद्ध प्रयत्न को सामने रख कर यदि हम इस पर विचार करें तो कहना पड़ता है कि हिंदी के प्रचार-प्रसार में इससे सहायता ही

मिली। विरोध और बाधाएँ हीं सुप्त विचारों को जागरित करने में सबसे अधिक सहायक होती हैं। अतः उर्दू - प्रेमियों के भाषा - पक्षपात ने हिंदी - भाषियों को भी सचेत कर दिया। हम तो समझते हैं, इस परोक्ष सहायता के लिए हम हिंदी - भाषियों को उनका कृतज्ञ ही होना चाहिए।

हिंदी नाटक का विकास

हिंदी नाटक की प्रगति के संबंध में सब से पहली ज्ञातव्य बात यह है कि उसका विकास लगभग पिछले सौ वर्षों में ही हुआ। इसके पहले कुछ नाटक लिखे अवश्य गए, परंतु साहित्यिक दृष्टि से महत्व के न होने के कारण उनका विशेष प्रचार न हुआ। यदि कहा जाय कि केवल शांतिमय वातावरण पाकर ही पिछले सौ वर्षों में नाटकों का विकास हुआ तो यह उचित न होगा। भारत में शांति मुगलकाल में भी पर्याप्त रही और गायन, वादन आदि उन अनेक कलाओं का, जिनकी प्रगति के लिए शांतिमय वातावरण नितांत अपेक्षित है, समुचित विकास हुआ। दूसरी बात यह कि संस्कृत साहित्य-भंडार जिस प्रकार अन्य विषयों में पूर्ण है उसी प्रकार नाटक-साहित्य में भी। फिर क्या कारण है कि साहित्य के अन्य अंगों को संस्कृत से ऋण-रूप में निसंकोच लेकर भी हम नाटक-साहित्य के विषय में उदासीन बने रहे?

पहली बात का उत्तर यह है कि मुसलमानों के धार्मिक ग्रंथों में गायन, वादन आदि अभिनय-संबंधी

कलाओं का निषेध किया गया है। संभवतः इसी से मुसलमानों के राज्य में शांति रहते हुए भी नाटकों की रचना की ओर लेखकों और कवियों का ध्यान नहीं गया। इस संबंध में एक शंका यह की जा सकती है कि मुसलमानों के साथ-साथ अनेक हिंदू राजा भी तो बराबर बने रहे हैं; उनके यहाँ तो इसका निषेध नहीं था; ये तो संस्कृत के साथ हिंदी को भी अपने यहाँ सहर्ष आश्रय देते थे। तब नाटक का विकास न होने का क्या कारण है?

दूसरी बात के उत्तर में कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य के विकास के समस्त युगों में साहित्य-साधना वैयक्तिक रूप में ही हुई, सामूहिक रूप में नहीं। भक्त कवि तो समाज के समूह से दूर थे ही, दरबारी कवि भी एकमत नहीं थे और अभिनय के लिए एकता अनिवार्य है। वस्तुतः यह आश्चर्य की बात है कि जो साहित्य-प्रेमी शासक अपनी रसिकता दिखाने के लिए शृंगारी कवियों को आश्रय देते थे, उन्होंने ही शृंगार-भावना को उद्दीप्त करने के इस प्रमुख साधन को क्यों नहीं अपनाया!

जो हो, इतना निश्चित है कि हिंदी में नाटकों की रचना का जब आरंभ हुआ तब केवल शांतिमय वातावरण ही इसका कारण नहीं था। भारतेंदु

हरिश्चंद्र के पहिले लिखे हुए जो नाटक प्राप्त हुए हैं, उनमें प्रमुख ये हैं—

नाटक	रचनाकाल	लेखक	विशेष
(१) मायाप्रपंच	सन् १६०३	देव (देवकवि नहीं)	
(२) रामायण महानाटक	,, १६१०	प्राणचंद चौहान	संवाद रूप में काव्य है।
(३) हनूमान नाटक	,, १६२३	हृदय राम	संस्कृत के हनुमन्नाटक का पद्यानुवाद।
(४) प्रबोध चंद्रोदय	×	×	संस्कृत से इसी नाम के नाटक का अनुवाद कई व्यक्तियों ने किया है।
(५) शकुंतला	,, १६८०	नेवाज	पद्य - बद्ध नाटक व्रजभाषा में
(६) सभासार	,, १७००	रघुराम	,, ,,
(७) करुणाभरण	,, १७००	कृष्णजीवन लछी राम	दोहे चौपाइयों में
(८) माधव विनोद	,, १७५२	सोमनाथ	मालती माधव का अनुवाद ; सत्यनारायण ने इससे सहायता ली
(९) जानकी रामचरित	,, १७९३	हरीराम	पद्य के साथ खड़ी बोली गद्य में। पद्य की भाषा भी खड़ी बोली से प्रभावित है
(१०) रामलीला विहार	,, १७९३	लक्ष्मण शरण 'मधुकर'	,,
(११) आनंद रघुनंदन	×	महाराज विश्वनाथसिंह	सात अंक, रामकी जीवन कथा; भाषा अस्तव्यस्त है।

नाटक	रचनाकाल	लेखक	विशेष
(१२) नहुष नाटक	सन् १८४१	भारतेंदु के पिता गोपालचंद उप-नाम गिरिधरदास	गद्य और पद्य में, परंतु गद्य लगभग पाँचवा हिस्सा ; व्रजभाषा ।
(१३) प्रद्युम्न-विजय	,, १८४६	गणेश कवि	कवि नाटक - शास्त्र का पंडित जान पड़ता है
(१४) अभिज्ञान शाकुंतल	,, १८६३	राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६-९६)	सन् १८६३ में सारा नाटक गद्य में, पर सन् १८९० में गद्य का गद्य और पद्य का पद्य । गद्य खड़ी बोली और पद्य व्रज-भाषा में
(१५) उत्तरराम चरित	,, १८७१	देवीदत्त त्रिपाठी	प्रधानतः गद्य में कुछ दोहे पद्य में ।

इनके अतिरिक्त विद्यापति के कुछ नाटकों के नाम और बताए जाते हैं । नाटकों की इस परंपरा से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार हिंदी-साहित्य अन्य विषयों में संस्कृत साहित्य के ग्रंथों से निसंकोच सहायता लेता रहा उसी प्रकार प्राचीन नाटकों के आधार पर नाटक भी रचे गए । अभिनय की चिंता से मुक्त रहने के कारण अपने अनुवादित नाटकों को कवि और लेखकों ने मनमाना रूप दिया । सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में लिखे नाटक

अधिकांश में पद्यमय हैं; कुछ में तो प्रस्तावना रूप में भी गद्य के दर्शन नहीं होते। हाँ, उन्नीसवीं शताब्दी में लिखित अथवा अनुवादित नाटकों में थोड़ा-बहुत गद्य मिलता है। कुछ नाटक तो पूरे पद्य में है। इसका कारण अनुवादकों में भावों को सुंदर रूप से पद्य-बद्ध करने की क्षमता समझना चाहिए अथवा उनकी रुचि विशेष, कहा नहीं जा सकता।

नाटककला की दृष्टि से इनमें केवल 'आनंदरघुनंदन' और 'अभिज्ञानशाकुंतल' का नाम उल्लेखनीय है; शेष नाटक बहुत साधारण हैं और नाटकीय तत्वों का उनमें अभाव है। इनका अध्ययन करके नाटकों में समावेश करने का आरंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से हुआ। इनका रचनाकाल सन् १८६८ में १८ वर्ष की अवस्था से आरंभ होता है। नाटक रचने की प्रेरणा इन्हें बंगीय नाटकों का अभिनय देखने पर मिली। अपने १७-१८ वर्ष के साहित्यिक जीवन में इन्होंने लगभग इतने ही अनुवादित और मौलिक नाटकों की रचना की। इनका सब से पहला नाटक 'विद्यासुंदर' इसी नाम के एक बंगाली नाटक का अनुवाद है। इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी दो-एक अनुवाद बँगाली नाटकों के किए। संस्कृत नाटकों के अनुवादों में 'सत्यहरिश्चंद्र', 'कर्पूर मंजरी'

और 'रत्नावली' सुंदर हैं। प्रथम तो कई दृष्टियों से मौलिक जान पड़ता है। अँगरेजी नाटकों में इनका शेक्सपियर के 'मर्चेंट आव वेनिस' का अनुवाद अच्छा हुआ है। इनकी मौलिक नाटक-कृतियों में 'चंद्रावली' और 'नीलदेवी' श्रेष्ठ हैं। उद्देश्य-विशेष से लिखे हुए ओजपूर्ण नाटकों में 'भारतदुर्दशा' बहुत प्रभावशाली है। भाषा के अतिरिक्त इनके नाटकों की विशेषता थोड़े परिवर्तन के पश्चात इनका अभिनय-योग्य हो सकना है। इनकी शैली में प्राचीन भारतीय नाटक-तत्वों और नवीन पाश्चात्य नियमों का सामंजस्य-सा मिलता है। संस्कृत के तत्वों का अध्ययन तो इन्होंने थोड़ा बहुत मूल ग्रंथों के आधार पर किया था; किंतु पाश्चात्य का बँगला के द्वारा। फल यह हुआ कि पाश्चात्य और भारतीय परंपरा जिस अनुचित अनुपात के सम्मिलित रूप में बंगाल में प्रचलित थी वही भारतेंदु भी अपना सके। इस दृष्टि से यह सत्य है कि भारतेंदु के नाटकों पर वंगीय नाटक साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा। बँगला के कई नाटकों का उन्होंने अनुवाद किया और कुछ की सहायता लेकर नए नाटक भी रचे। इसी प्रकार संस्कृत के नाट्य-साहित्य से भी उन्होंने सहायता ली।

भारतेंदु के नाटक प्रायः पौराणिक, सामाजिक और ऐतिहासिक हैं। इनके विषयों से हमें लेखक के

आदर्श और विचारों के संबंध में भी बहुत-कुछ ज्ञात हो सकता है। हाँ, अनुवादित नाटकों से हमें लेखक की रुचि का पूरा-पूरा परिचय नहीं मिलता और भारतेंदु के अनुवादित नाटक ही अधिकांश में पौराणिक हैं। यदि हम इन्हें भारतेंदु के नाट्य-साहित्य से अलग कर दें तो विशेषतः वे ही नाटक बच रहते हैं जिनका विषय समाज या इतिहास है। इन्हें लेकर उन्होंने समाज और देश की तत्कालीन गिरी हुई दशा का दिग्दर्शन कराया है और यह उनके स्वतंत्र निरीक्षण का परिचायक माना जा सकता है। 'चंद्रावली' जैसी नाटिकाओं में प्रेम का जो सुंदर और मनोहर विवेचन मिलता है, वह मौलिक नहीं है; उस पर परिपाटी और संस्कारों का प्रभाव अधिक पड़ा है, रुचि का कम। आशय यह कि बड़े घर में पैदा होकर रसिकवर बन जाने के कारण मनोरंजन और विनोद के उद्देश्य से ही इन्होंने ऐसे नाटकों की रचना की। इनका कथा-संगठन सफल कहा जायगा। इस सफलता की कसौटी यह है कि कथानक के विकास के लिए एकत्र की हुई मुख्य और प्रासंगिक घटनाओं का उतना ही विवेचन किया जाय जितना विषय को स्पष्ट करने और स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त हो। भारतेंदु के नाटकों में यद्यपि कहीं-कहीं उद्देश्य-विशेष से कथोपकथन

कुछ लंबे-लंबे भाषणों के रूप में हो गए हैं तथापि उनमें शिथिलता नहीं है। इसका एक कारण यह है कि उन्होंने लकीर के फकीर न बन कर सर्वत्र उचित स्वतंत्रता से काम लिया। लंबे-लंबे भाषण जैसे अवतरण 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में मिलते हैं। कला की दृष्टि से तो ये महत्व के नहीं हैं, न हम इन्हें स्वाभाविक ही कह सकते हैं और न इनसे हमें पात्रों के चरित्र-चित्रण में ही अधिक सहायता मिलती है; परंतु विषय की स्पष्टता और उद्देश्य की पुनीतता के कारण ये खटकते भी नहीं।

अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में भारतेंदु जी कितना सफल हुए हैं, इस बात की विवेचना केवल उन्हीं नाटकों से लेकर की जा सकती है जो या तो पूर्ण रूप से मौलिक हों अथवा अनुवाद होते हुए भी जिनकी रचना में पर्याप्त और वांछनीय स्वतंत्रता से नाटककार ने काम लिया हो। मौलिक नाटकों के संबंध में भी इतना ध्यान रखना चाहिए कि जिनकी रचना विषय अथवा व्यक्तिगत विचारों के प्रचार के निमित्त की जाती है उनमें नाटककार को अपने पात्रों के चरित्र का यथोचित विकास करने का पूर्ण अवसर नहीं मिलता। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' ऐसा ही उद्देश्य-विशेष से लिखा नाटक है। 'भारत दुर्दशा' और 'भारत जननी' यद्यपि इस कोटि में

नहीं आते तथापि लिखे ये भी निजी विचारों के प्रचारार्थ ही गए थे। अतः नाटकों की रचना के ध्येय और आदर्श का ध्यान रख कर चरित्र-चित्रण की विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि भारतेंदु जी ने मानसिक द्वंद्व की व्याख्या की ओर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना सामान्य आदर्श-दिग्दर्शन करने की ओर। हरिश्चंद सत्य का आदर्श व्रती है, शैव्या आदर्श पतिव्रता स्त्री है, 'नीलदेवी' का नायक सूर्यदेव सच्चा वीर राजपूत है। रानी नीलदेवी भी वीरता की दृष्टि से आदर्श ही है। 'चंद्रावली' नाटिका की चंद्रावली का प्रेम भी आदर्श और सत्य ही है।

सारांश यह कि नाटकों के प्रथम विकास-काल में भारतेंदु अपने प्रयत्न में प्रर्याप्त सफल रहे। उनके समकालीन कुछ साहित्य सेविकों ने, जिनमें प्रताप नारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, श्री निवासदास, तोताराम, काशीनाथ खत्री आदि मुख्य हैं, भारतेंदु का अनुकरण करके अनेक मौलिक और अनुवादिक नाटकों की रचना की। कथानक के संगठन, विषय की नवीनता और चरित्र-चित्रण के संबंध में इन लेखकों का आदर्श भी उन्हीं से मलता-जुलता था। इस युग के उक्त साहित्य-सेवियों के सम्मिलित उद्योग से हिंदी नाटक-साहित्य में केवल

इतना कार्य हुआ कि हिंदी-लेखक इस ओर आकृष्ट हो गए। भारतेंदु ने संस्कृत और बँगला के तथा उनके समकालीनों ने इनके अतिरिक्त अँगरेजी साहित्य के कुछ नाटकों का अनुवाद किया था। हिंदी नाटक साहित्य के विकास दूसरे युग में यही काम अनिश्चित गति से चलता रहा। इस समय लिखे गए अथवा मुख्य अनुवादित नाटक ये हैं—

(१) संस्कृत से अनुवादित—इस दिशा में सबसे पहला प्रयत्न राजा लक्ष्मणसिंह ने किया था। उनके पश्चात् उल्लेखनीय कार्य करने वाले राय बहादुर लाला सीताराम थे। सन् १८८७ से उन्होंने संस्कृत ग्रंथों के अनुवादों में हाथ लगाया और लगभग १५ वर्ष में 'नागानंद', 'मृच्छकटिक', 'महावीर चरित', 'उत्तर-रामचरित', 'मालतीमाधव', 'मालविकाग्निमित्र' आदि का गद्य और पद्य में अनुवाद किया। इनका गद्य भाग जितना सरल और स्पष्ट है उतना पद्य भाग नहीं। इनके साथ-साथ पं० ज्वाला प्रसाद (मुरादाबाद) ने 'वेणी संहार' और 'अभिज्ञान शाकुंतल', बा० बाल-मुकुंद गुप्त ने 'रत्नावली नाटिका'; पं० सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तर रामचरित' और 'मालतीमाधव' का अनुवाद किया। कई दृष्टियों से इनमें अनेक अनूदित ग्रंथ सफल कहे जा सकते हैं।

(२) बँगला के अनुवादित—इस क्षेत्र में काम करने वालों में बनारस के बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू गोपाल राम गहमरी का नाम पहले आता है। वर्मा जी ने 'वीररानी' 'कृष्णकुमारी' और 'पद्मावती' नामक नाटकों का अनुवाद किया और गहमरी जी ने 'वनवीर' 'बभ्रुवाहन', 'चित्रांगदा', 'देशदशा' और 'विद्या-विनोद' का। इनके पश्चात् बँगला से नाटकों का अनुवाद करने में सबसे अधिक सफलता पंडित रूपनारायण पांडेय को मिली। इन्होंने द्विजेंद्रलाल के चार नाटकों; 'उसपार, 'शाहजहाँ' 'दुर्गादास', 'ताराबाई'-ठाकुर रवींद्रनाथ के 'अमलायतन'; गिरीश घोष के 'पतिव्रता' और क्षीरोद प्रसाद के 'खाँनजहाँ' नामक नाटकों के अनुवाद किए। शेष अनुवादकों में महत्वपूर्ण कार्य बंबई के नाथूराम 'प्रेमी' का समझा जाता है।

(३) अँगरेजी के अनुवादित—अँगरेजी शिक्षा का प्रचार जब भली भाँति किया जाने लगा तब उसके साहित्य से अपने देशवासियों को परिचित कराना हिंदी भाषा-भाषियों ने आवश्यक समझा। भारतेंदु-युग में यह कार्य अधिक नहीं हुआ। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में इस दिशा में कार्य आरंभ अवश्य हो गया। सन् १८९५ के लगभग जयपुर के पुरोहित

गोपीनाथ ने 'रोमियो जूलिएट' ('प्रेमलीला'), 'ऐज़ यू लाइक इट' और 'मर्चैंट आव वेनिस' ('वेनिस का बैपारी') नामक शेक्सपियर के तीन नाटकों, का अनुवाद किया। इनके पश्चात पं० मथुरा प्रसाद चौधरी ने 'मैकबेथ' और 'हैमलेट' का अनुवाद 'साहसेंद्र साहस' और 'जयंत' नाम से किया। पिछले में मूल अँगरेजी से मराठी में अनुवादित नाटक से भी सहायता ली गई थी।

(४) मौलिक नाटक—इस युग में प्रधानता तो अनूदित नाटकों की रही, पर दो-चार मौलिक नाटक भी लिखे गए। भारतेंद युग के अंतिम वर्षों में पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट चपेट' नामक सामाजिक प्रहसन और 'मयंक भंडारी' नाम का एक नाटक लिखा। इनके पश्चात पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रुक्मिणी परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय' नामक दो नाटक लिखे। पं० बलदेव प्रसाद ने 'प्रयास मिलन' 'मीराबाई नाटक', 'लल्ला बाबू' नामक तीन नाटक लिखे जिनमें अंतिम एक प्रहसन है। इनके सहोदर पं० ज्वालाप्रसाद ने 'सीतावनवास' नाम का नाटक लिखा। इस युग के मध्यकाल में बाबू शिवनंदन सहाय ने 'सुदामानाटक' और कानपूर के रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' ने 'चंद्रकला-भानुकुमार' नामक नाटक लिखे। अन्य नाटककारों में

सर्वश्री विश्वंभरनाथ 'व्याकुल' राधेश्याम, नारायण प्रसाद 'बेताब' का नाम प्रसिद्ध है।

उक्त सूची से एक बात यह स्पष्ट हो जाती है कि हिंदी नाटकों से द्वितीय विकास काल में अनुवादों की ही प्रधानता रही। जो नाटक मौलिक लिखे भी गए उनका विषय मुख्यतः प्राचीन पौराणिक कथाओं से ही लिया गया; उनमें मौलिकता विषय की तो थी ही नहीं, कहीं-कहीं कथोपकथन भी प्राचीनता की छाया लिए हुए था। 'चौपट चपेट' और 'लल्ला-बाबू' जैसे दो-एक सामाजिक नाटक विषय की दृष्टि के मौलिक थे; परंतु उनमें नाटकीय तत्वों का सर्वथा अभाव था। 'पूर्ण' जी का 'चंद्र कला भानुकुमार' नाटक विषय के लिए प्राचीन ऐतिहासिक कहानियों पर निर्भर रहते हुए भी मौलिक और सुंदर है, भाषा भी इसकी अच्छी है; परंतु बहुत बड़ा होने के कारण यह अभिनय योग्य न था। साहित्यिक दृष्टि के यह पठनीय अवश्य है।

आधुनिक युग

इधर १५-२० वर्षों से नाटक-साहित्य ने बड़ी उन्नति की है। विविध भाषाओं के नाटकों के अनुवाद इन वर्षों में किए अवश्य गए हैं परंतु मौलिक नाटकों की ओर लेखकों का ध्यान अधिक है। मौलिक

नाटककारों में स्व० बाबू जयशंकर प्रसाद, श्री हरीकृष्ण 'प्रेमी', पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र, पं० उदयशंकर भट्ट, पं० गोविंद बल्लभ पंत और सेठ गोविंददास मुख्य हैं। 'प्रेमी' जी के 'रक्षाबंधन', 'शिवा-साधना'; मिश्र ज के 'मुक्तिका रहस्य', 'सिंदूर की होली', 'राक्षस का मंदिर', 'आधीरात'; भट्ट जी के 'दाहर या सिंधपतन', 'विक्रमादित्य', 'कमला', 'अंबा', 'विश्वामित्र', 'सगर - विजय'; पंत जी के 'वरमाला', 'राजमुकुट', 'अंगूर की बेटी' और सेठ जी के 'कर्तव्य', 'हर्ष', 'प्रकाश' और 'सेवापथ' नाटक प्रसिद्ध हैं। प्रसाद जी और 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों का विषय मुख्यतः इतिहास से चुना है—प्रथम ने हिंदू काल और द्वितीय ने मुसलिम काल से। इसमें इन दोनों को सफलता भी मिली है। मिश्र जी ने योरप के साहित्य - संपन्न देशों के 'यथा-तथ्यवाद'—जो समस्या जैसी है उसका ज्यों का त्यों वास्तविक रूप—को लेकर 'समस्या'—प्रधान नाटक लिखे हैं। भट्ट जी के नाटकों के विषय पौराणिक कहानियाँ हैं। नाट्य - कला की दृष्टि से उन्होंने इनका सुंदर उपयोगा किया है। पंत जी के नाटक विविध विषयों—प्रथम मार्कंडेय पुराण की एक कथा, द्वितीय मेवाड़ की ऐतिहासिक कथा और तृतीय मद्यपान की सामाजिक समस्या—को लेकर लिखे गए हैं। सेठजी

के नाटकों में भी प्रथम विवेचना-प्रधान पौराणिक, द्वितीय ऐतिहासिक और तृतीय तथा चतुर्थ सामाजिक हैं।

इनके अतिरिक्त पांडेनबेचन शर्मा 'उग्र' ने 'चुंबन', 'चार बेचारे' (संपादक, अध्यापक, सुधारक, प्रचारक) और 'महात्मा ईसा'; श्रीजगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' ने 'प्रताप प्रतिज्ञा'; स्व० राधाकृष्णदास ने 'महाराणा प्रताप'; श्री चतुरसेन शास्त्री ने 'अमर राठौर', 'उत्सर्ग'; श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'ज्योत्सना'; श्री माखन लाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन युद्ध', पं० बद्रीनाथ भट्ट ने 'दुर्गावती', 'चंद्रगुप्त'; श्री सियारामशरण 'पुण्यपर्व', श्री कैलाशनाथ भटनागर ने 'भीम प्रतिज्ञा' आदि दो-दो एक-एक नाटक लिख इस क्षेत्र में प्रवेश किया है। इन नाटकों में कुछ न कुछ विशेषताएँ अवश्य हैं; परंतु सभी दृष्टियों से सुंदर कोई नहीं हैं। कदाचित इसी से इनमें से अनेक लेखकों ने इस तरफ से हाथ खींच लिया है।

अनुवाद-कार्य—इन १५-२० वर्षों में बँगला और अँगरेजी से सुंदर और सफल अनुवाद कम हुए हैं। जो हैं भी वे या तो पूर्वानुवादों की सहायता से प्रस्तुत किए गए हैं या बहुत साधारण हैं। हाँ

जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे के सुंदर नाटक 'फाउस्ट' का अनुवाद बरेली कालेज के प्रोफेसर पं० भोलानाथ शर्मा ने बड़े परिश्रम से किया है। विद्वान अनुवादक ने इसके लिए जर्मन भाषा सीखी है। संस्कृत नाटकों के अनुवाद का काम अभी चल रहा है। इधर बाबू सत्य जीवन वर्मा 'भारतीय' ने भास के 'स्वप्न वासवदत्ता', श्री व्रजजीवन दास ने 'पंचरात्र', 'मध्यम व्यायोग', 'प्रतिज्ञायौगंधरायण', श्री बलदेव शास्त्री ने 'प्रतिमा' तथा श्री वागीश्वर विद्यालंकार ने दिंड्नाग के 'कुंदमाला' का अनुवाद किया है।

गीत नाट्य—नाट्य साहित्य के विकास के प्रस्तावना काल में संस्कृत ग्रंथों के आधार पर जिस प्रकार पद्यबद्ध नाटक लिखे गए थे उसी प्रकार इधर भी कुछ गीत नाट्यों की रचना हुई है। इन्हें हम भाव-नाट्य भी कह सकते हैं। इनमें 'प्रसाद' जी का 'करुणालय', पं० उदय शंकर भट्ट जी का 'मत्स्यगंधा' और बाबू मैथिलीशरण जी का 'अनघ' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम दो तो अत्यंत भाव-पूर्ण काव्य के रूप में हमारे सामने आते हैं और अंतिम कथोपकथन-प्रधान पद्य-बद्ध सामाजिक नाटक के रूप में।

एकांकी नाटक—इधर छोटे-छोटे एकांकी नाटकों की रचना भी होने लगी है। हिंदी पाठक इन्हें पसंद भी कर रहे हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि एकांकी नाटक लिखने की प्रेरणा अँगरेजी से मिली है। वस्तुतः ये संस्कृत के उपनाटक का ही आधुनिक रूप हैं। इसके लेखकों में 'प्रसाद' जी, डा० रामकुमार वर्मा, श्री भगवती चरण वर्मा, पं० उदय-शंकर भट्ट और पं० सद्गुरुशरण अवस्थी का नाम प्रसिद्ध है। इन लेखकों के एकांकियों के कुछ संग्रह इधर प्रकाशित हुए हैं। इनके आधार पर 'आधुनिक एकांकी नाटक' नाम का संकलन प्रकाशित किया गया है। सुंदर होते हुए भी यह पूर्ण नहीं है। परंतु उक्त लेखकों से अभी इस दिशा में बहुत आशा है।

समीक्षा

अब तक जो कुछ लिखा गया है उससे यह स्पष्ट है कि इधर १५-२० वर्षों से नाटक-साहित्य ने पर्याप्त उन्नति की है। हमें अपने 'प्रसाद', 'प्रेमी', आदि पर गर्व भी होने लगा है। परंतु इनके—मुख्यतः प्रसाद जी के—नाटकों में एक कमी यह बताई जाती है कि ये अभिनय-योग्य नहीं है। इस कथन में कुछ तथ्य तो अवश्य है परंतु यह भी सत्य है कि अपने

प्रसिद्ध नाटकों का अभिनय करने का हमने उचित प्रयत्न भी नहीं किया है। भाषा की क्लिष्टता अभिनय में बाधक अवश्य होती है, परंतु यदि प्रयत्न किया जाय तो अन्य विशेषताओं के कारण अनेक नाटककारों के—हम तो कहेंगे 'प्रसाद' जी के भी—नाटकों का सफलतापूर्वक अभिनय किया जा सकता है।

रही नाटक-कला संबंधी बात। हमारे आधुनिक नाटककार आक्षेपयोगी बातों को क्रमशः दूर करते रहे हैं और उनके नए नाटक उन दोषों से सर्वथा मुक्त हैं जिनके लिए पाश्चात्य आलोचक नाक-भौं सिकोड़ा करते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ही इनसे मुक्ति पाने का प्रयत्न करना आरंभ कर दिया था। 'प्रसाद' जी तक आते-आते हमारे नाटक दोष-रहित हो गए हैं और हमें आशा होती है कि भविष्य में हिंदी नाटक-साहित्य और भी अधिक उन्नति करेगा।

सूर - सागर

सूरदास जी का यह ग्रंथ अत्यंत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यद्यपि 'रामायण', 'महाभारत', 'इलियड' 'पैरेडाइज लास्ट' और 'रामचरित - मानस' की तरह का यह ग्रंथ नहीं है, तथापि इसका सम्मान इन विश्व - प्रसिद्ध महाकाव्यों से कम नहीं है। इसकी रचना के संबंध में कहा गया है कि जब सूरदासजी महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से मिले और उन्हें—'हरि, हौं सब पतितनि कौ नायक,' 'प्रभु, हौं सब पतितनि कौ टीको' आदि विनय - संबंधी पद अत्यंत विनीत भावसे सुनाए, तब उन्होंने कवि को भगवद्भक्ति के लिए उत्साहित करते हुए आँखों में प्रेमाश्रु भरकर कहा—'भाई, भगवान की लीला का भी कुछ गान करो।' सूरदास जी ने उनकी यह आज्ञा शिरोधार्य की। फिर प्रतिदिन कुछ पदों की रचना करके महाप्रभु वल्लभाचार्य जी को वे सुनाने लगे। 'सूरसागर' इन्हीं पदों का संकलन है।

यहाँ एक बात याद रखने योग्य है। 'नित्यप्रति' कुछ पदों की रचना से इनकी संख्या तो बहुत बढ़ गई; परंतु अधिकांश पद साधारण ही रहे। कवि की कविता तभी उच्चकोटि की होती है, जब विषय में

उसकी अंतरात्मा पूर्णरूप से लीन हो जाय। कवि के आंतरिक हृदयोद्गारों के चमत्कारपूर्ण दर्शन ऐसी ही कविता में होते हैं। इसके लिए काव्य-रचना स्वांतः सुखाय की जानी चाहिए। 'सूरसागर' के अधिकांश पद कृष्ण-लीला से संबंध रखते हैं। इस विषय में कवि की विशेष रुचि थी और उसकी वृत्ति इसमें लीन भी हुई है। परंतु काव्य-रचना की उमंग किसी भी कवि में प्रतिक्षण नहीं रहती, और सूरदास जी ने, जेसा प्रसिद्ध है तथा उनके ग्रंथों की पद-संख्या देखकर कहा जा सकता है, कुछ पद नित्यप्रति बनाने का निश्चय-सा कर लिया था। ऐसी दशा में जिन पदों की रचना स्वांतःसुखाय और विषय में तल्लीन होकर की गई, वे तो काव्य-कला की दृष्टि से विशेष सुंदर हैं, शेष साधारण और भरती के। परंतु इन साधारण पदों से 'सूरसागर' अथवा सूर-काव्य का महत्व किसी प्रकार कम नहीं होता। कारण, साहित्य में कवि का स्थान उसकी कृति की श्रेणी और मान देखकर ही निर्धारित किया जाता है, केवल परिमाण अथवा संख्या देखकर नहीं।

विस्तार

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार सूरदास जी ने अपने जीवन-काल में 'सहस्रावधि पद कीय।'

परंतु बाबू राधाकृष्णदास ने लिखा है—'सूरदास जी के सवा लक्ष पद बनाने की जो किंवदंती प्रसिद्ध है, वह ठीक विदित होती है; क्योंकि एक लाख पद तो श्री वल्लभाचार्य के शिष्य होने के उपरांत और 'सारावली' के समाप्त होने तक बनाए। इसके आगे-पीछे के तो अलग ही रहे।' इसके उपरांत 'शिवसिंह-सरोज' के लेखक शिवसिंह सेंगर ने लिखा है—'इनका' बनाया 'सूरसागर' ग्रंथ विख्यात है। हमने इनके ६० हजार पद तक देखे हैं, समग्र ग्रंथ कहीं नहीं देखा।'

सूरदासजी के पदों की संख्या के संबंध में उक्त तीनों मतों के अतिरिक्त और कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता। इनमें प्रथम दो का अर्थ अनिश्चित ही समझना चाहिए। 'सहस्रावधि', 'सवा लक्ष' और 'एक लाख' का अर्थ बहुसंख्यावाचक ही समझना न्यायसंगत है। हाँ, 'सरोज'-कारने जो ६० हजार पदों की निश्चित् बात लिखी है, वह अवश्य विचारणीय है। परंतु हम समझते हैं कि उन्होंने किंवदंतियों की बात सच मानकर सूरदासजी के ६० हजार पदों पर विश्वास कर लिया होगा; इस बात की छान-बीन करने का प्रयत्न न किया होगा कि जितने पद उन्होंने देखे हैं, वे केवल सूरदास जी के बनाए हुए हैं अथवा सूरदास नामधारी अन्य कवियों के पद भी उनमें सम्मिलित हैं। इसका आशय यह नहीं है कि हम सूरदासजी के

६० हजार पद बनाने की बात को असत्य अथवा असंभव मानते हैं, प्रत्युत हमारा तो यह विश्वास है कि सूरदासजी के पदों की संख्या इसी के लगभग होगी। 'सूरसारावली' में स्वयं कवि ने लिखा है—

ता दिन ते हरि-लीला गाई, एक लक्ष पद बंद;
ताको सार 'सूरसारावलि' गावत अति आनंद।

इसका भी आशय यह हुआ कि कवि के 'सूरसागर' में एक लाख पद थे; परंतु प्रमाणों के अभाव में केवल किंवदंतियों के आधार पर कुछ कहना हम अनुचित समझते हैं। 'सूरसागर' के अब तक प्राप्त पदों की संख्या लगभग ४१३२ ही है। हाँ, नागरी-प्रचारिणी सभा के 'सूरसागर' में इस संख्या के बहुत-कुछ बढ़ जाने की आशा है। बाबू श्यामसुंदर दास ने अपने 'भाषा और साहित्य' नामक ग्रंथ में इनकी संख्या ६ हजार बताई है।

रचना-काल

रचना-काल की दृष्टि से समस्त 'सूरसागर' के हम तीन भाग कर सकते हैं:— **प्रथम स्कंध**—विनय-संबंधी पद और कथा-भाग। **दशम स्कंध**—'भगवल्लीला'-वर्णन। **शेष स्कंध**—विविध विषय (पौराणिक आख्यानों और अवतारों का वर्णन)।

प्रथम स्कंध के विषय में महाप्रभु वल्लभाचार्य के कथन — 'काहे घिघियात है'— को लेकर यह कहा गया है कि इसकी रचना संवत् १५८७ (सन् १५३०) के पहले हो चुकी होगी। कारण यह है कि श्री नाथजी की प्राकट्य वार्ता के अनुसार इसी समय के लगभग उन्होंने आचार्य से दीक्षा ली थी। इसके पश्चात् उन्होंने साधारणतः अपना विषय बदल दिया और 'भगवल्लीला - वर्णन' करने लगे। कथा - भाग की रचना 'सूरसागर' के संपादन के समय की है। यह कार्य सं० १६०७ के पहले हुआ होगा। इसलिए हम इस भाग का रचना - काल सं० १६०० से १६०७ तक मान सकते हैं।

दशम स्कंध के अंतर्गत कृष्ण और राधा - संबंधी विषयों का वर्णन है। इन पदों की रचना का आरंभ सं० १५८७ से ही समझना चाहिए। 'सूरसागर' की समाप्ति सं० १६०७ के पूर्व मानी जाती है, क्योंकि 'साहित्य - लहरी' का रचना - काल यही है। इस दूसरे ग्रंथ के आरंभ तक 'सूरसागर' के समाप्त हो जाने के संबंध में जो धारणा है, वह इसलिए कि 'सूरसारावली' और 'साहित्य - लहरी' के रचना - काल में विशेष अंतर नहीं हो सकता। हमारी सम्मति में यह तो संभव है कि 'साहित्य -

लहरी' अथवा 'सूरसारावली' के आरंभ वाले संवत् के पूर्व 'सूरसागर' समाप्त हो चुका हो; परंतु शृंगार अथवा विनय-संबंधी पदों की रचना का क्रम बिल्कुल बंद हो गया हो, इससे हम सहमत नहीं। कारण, यदि सूरदास जी की मृत्यु संवत् १६२० में हुई ही मान ली जाय, तो भी 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसारावली' की रचना सं० १६०७ के पश्चात् दो-तीन वर्ष के भीतर करके वे १२—१३ वर्ष जीवित रहे, और यह कोई स्वीकार नहीं कर सकता कि 'सूरसागर' जैसे बृहत् काव्य का रचयिता इस दीर्घ काल में शांति से बैठा रहा होगा।

शेष स्कंधों का रचना-काल भी हम सं० १६०७ से सं० १६१० के बीच में मानना उचित समझते हैं। इन स्कंधों का विषय या तो सूरदास जी के प्रिय इष्टदेव के विविध रूपों के वर्णनों से भरा हुआ है या उनसे संबंधित अन्य महापुरुषों के प्राचीन आख्यानों से।

अब हमें विचार करना है कि 'सूरसागर' का आरंभ किस संवत् में हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि 'प्राकट्यवार्ता' के अनुसार महाप्रभु वल्लभाचार्य की मृत्यु सं० १५८७ में हुई। उन्होंने वृंदावन में पूर्णमल के मंदिर में श्रीनाथ जी की स्थापना सं० १५७६ में की थी। इनके कीर्तन की सेवा महाप्रभु

ने कुंभनदास को करने की आज्ञा दी। यह बात भी 'प्राकट्य वार्ता' में लिखी है। इसके दो-एक वर्ष बाद ही सूरदास की वल्लभाचार्य से भेंट हुई होगी। सुविधा के लिए इस भेंट और उनके दीक्षित होने का संवत् १५८० मान सकते हैं। इसके पहले सूरदास विनय-संबंधी पद रच चुके थे। इस कार्य में उन्हें लगभग ५ वर्ष अवश्य लगे होंगे। अतः 'सूरसागर' का आरंभ-संवत् १५७५ माना जा सकता है। सारांश यह कि सं० १५७५ के लगभग काव्य-रचना-कार्य आरंभ करके संवत् १६१५ तक—लगभग ४० वर्ष—सूरदास अनवरत रूप से उसमें लगे रहे। भावपूर्ण कथाओं को लेकर उन्होंने जिन मुक्तक गीतों की रचना की, उनमें सदैव क्रम रहा हो, यह संभव नहीं जान पड़ता। अतः 'सूरसागर' के पूर्ण हो जाने के पश्चात् तथा समय-समय पर भी सभी विषयों के कुछ पदों की रचना का क्रम अवश्य चलता रहा होगा। यदि सूरदास के कुल पदों की संख्या केवल दस हजार ही मान ली जाय और यह स्वीकार कर लिया जाय कि कवि ने नियमित रूप से दो-तीन पदों की रचना नित्यप्रति की होगी, तब कहीं इतने पद लगभग २५ वर्ष में लिखे जा सके होंगे। फिर उनके संकलन, संपादन, क्रम-विभाजन आदि में भी कुछ समय लगा ही होगा। इस प्रकार 'सूरसागर'

की रचना के लिए साधनहीन सूरदास को अपने जीवन के ४० वर्ष लगाने पड़े हों, तो कोई आश्चर्य नहीं।

विषय-सहायक सामग्री और सूर की मौलिकता

'सूरसागर' में कृष्ण-जीवन की जितनी लीलाएँ वर्णित हैं, उनका आधार 'श्रीमद्भागवत' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ माना जाता है। जब तक सूरदासजी के जन्मांध होने न होने का प्रश्न हल नहीं हो जाता, तब तक निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सूर ने स्वयं कभी उक्त ग्रंथ पढ़ा था अथवा केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ही अपने पदों की रचना की थी। असंभव बात दोनों के कोई नहीं है। एक महाशय ने तो स्पष्ट कह दिया है कि सूरदास काव्य-शास्त्र के पंडित थे। पुराणों का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। परंतु यह बात सूर-काव्य को देखकर लिखी गई है या किसी प्रमाण के आधार पर, कहा नहीं जा सकता। 'चौरासी वार्ता' के आधार पर यह कहा जाता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य ने ही उन्हें भागवत सुनाकर उसका रहस्य समझा दिया था। इसके पश्चात् उन्होंने 'सूरसागर' के मुख्य भाग की रचना में हाथ लगाया। एक दूसरे आलोचक का कहना है कि सूरदास को "मनुष्यों का ही नहीं, पशु-पक्षियां

की प्रवृत्ति का भी अनुभव 'सत्संग' की वजह से हुआ था। वृंदावन में वैष्णव महात्माओं में 'नाना पुराण निगमागम' की चर्चा सतत होती रहती थी। उनके सत्संग में रहने से सूरदास जी को बहुत लाभ हुआ।" हो सकता है कि मथुरा और गोकुल में कृष्ण की पूर्ण जीवन-लीलाएँ सुनकर उन्होंने अपने पद रचे हों। एक ही विषय पर जो अनेक पद गाए जाते हैं उनका कारण भी यही जान पड़ता है कि भक्ति के आवेश में वे फुटकर पद गाया करते थे। उनके प्रिय विषय उनके आगे नाचते रहते और कवि के मुख से स्वतः पद निकलने लगते थे।

एक बात और। 'सूरसागर' की रचना केवल भागवत के आधार पर की गई नहीं मानी जा सकती इसका एक कारण यह है कि भागवत के दसवें स्कंध में राधा का कहीं उल्लेख नहीं है, और 'सूरसागर' के विप्रलंभ-शृंगार के अधिकांश पद राधा से ही संबंध रखते हैं। इसी प्रकार दान-लीला का प्रसंग भी भागवत में नहीं मिलता। राधा के विषय में तो फिर कभी विवेचना की जायगी, यहाँ केवल इतना कहना है कि जान पड़ता है, भागवत के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रसंग सत्संग में सूरदास चुपचाप सुनते

रहते थे और एकांत में उन पर मनन कर तत्संबंधी पद बनाया करते थे।

अब प्रश्न है कि 'सूरसागर' में 'श्रीमद्भागवत' के क्रम का जो अनुकरण किया गया है, उसका कारण क्या है? हमारी समझ में तो 'सूरसागर' का संकलन उनके किसी शिष्य या भक्त ने भागवत की कथा सामने रख कर किया होगा। तुलसीदास की 'गीतावली' और 'कवितावली' के विषय में भी ऐसा ही अनुमान है। हाँ, यह हो सकता है कि यदि 'सूरसागर' का संपादन और संकलन उन्हीं के सामने हुआ—जैसा कि अनुमान किया जाता है—तब उक्त क्रम उनकी सम्मति से ही रखा गया होगा। वल्लभसंप्रदाय में भागवत का महत्व है भी बहुत अधिक। स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्य नित्यप्रति उसका पारायण किया करते थे। ऐसी स्थिति में हम भी यह बहुत स्वाभाविक समझते हैं कि 'सूरसागर' के संपादन में सूर उसके क्रम का अनुकरण करते। यही नहीं, कृष्ण के जीवन-चरित्र के अतिरिक्त अनेक पौराणिक कथाओं और अवतारों का जो वर्णन 'सूरसागर' में मिलता है, वस्तुतः उसका भी यही कारण है, क्योंकि सूर की रुचि इन विषयों में नहीं थी।

कृष्ण की जीवन-घटनाओं को कथा-रूप में कहने की साधारण प्रवृत्ति सूरदास में नहीं पाई जाती। उनका वर्णन निरुद्देश्य नहीं है। अपने काव्य में कृष्ण और गोपी-प्रसंग को लेकर उन्होंने उन्हीं वेदनाओं को व्यक्त करने का सफल और स्तुत्य प्रयत्न किया है, जो सार्वजनीन और सर्वकालीन हैं। मानव-समाज के हृदय में न जाने कब से वही वेदना छिपी हुई है और वही भावनाएँ उठ रही हैं, जो गोपियों को लेकर सूर ने अपने काव्य में व्यक्त की हैं। गोपियों की व्यथा को समझना सब का काम नहीं है। सूर की तरह दिव्य चक्षुवाले व्यक्ति ही उसे समझ और सफलता पूर्वक व्यक्त भी कर सकते हैं। इस चर्म-चक्षुहीन कवि ने यही किया भी है। गोपी और कृष्ण का सूर-काव्य में वर्णित संबंध दो दृष्टियों से है—एक तो उसमें साधारण स्त्री-पुरुष के प्रेमपूर्ण आकर्षण, व्यवहार और वेदना का वर्णन है और दूसरे जीव और ईश्वर के बीच के उस आकर्षण का, जिसका अनुभव मानव-हृदय सृष्टि के आदिकाल से करता चला आ रहा है। कहने को कह सकते हैं कि जिस जाति ने यह अनुभव जितनी ही तीव्र मात्रा में किया, संसार में वह उतनी ही सभ्य कहलाई है। कवियों को भी यह विषय आदि से ही प्रिय रहा है। कृष्ण-काव्य में आरंभ से ही इस विषय की प्रधानता है। संस्कृत में 'भागवत'

ग्रंथ की रचना के समय भी यही उद्देश्य कवि का रहा होगा। आगे के संस्कृत-कवि ईश्वर और जीव का संबंध तो गोपी कृष्ण की उक्त कथा में धीरे-धीरे भूल गए, केवल स्त्री-पुरुष की कथा, स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम, वेदना, विरह आदि लौकिक वासनायुक्त भाव उनके सामने रह गए। राधा की सृष्टि इसी समय की है। हिंदी-कवियों में सूरदास की दृष्टि कथा के दोनों अंगों पर थी। उन्होंने गोपी-कृष्ण को लेकर मनुष्य जीवन के स्त्री-पुरुष-प्रसंग की ओर संकेत करते हुए जीव और ईश्वर का संबंध, आकर्षण, व्यवहार और वेदना दिखाने का सफल प्रयत्न किया है। सूर के पश्चात् के रीतिकालीन कवियों की दृष्टि इतनी व्यापक नहीं थी। उन्होंने गोपी-कृष्ण की जीवन-घटनाओं को देखा अवश्य; परंतु अपनी संकुचित दृष्टि और परिमित लक्ष्य के कारण उन्हें अपना सके स्त्री-पुरुष के साधारण आकर्षण और व्यवहार के रूप में ही। अलौकिक तत्व—जीव-ईश्वर-संबंध—की ओर उनका ध्यान नहीं जा सका। उनके काव्य में आगे चलकर जो शृंगारिक अश्लीलता आ गई, उसका कारण केवल उनका संकुचित दृष्टिकोण ही है।

सूर-काव्य का दूसरा मुख्य विषय कृष्ण का बाल-चरित्र-वर्णन है और तीसरा ईश्वर के प्रति उनकी भक्ति। ये दोनों विषय प्रथम से ही संबंधित

हैं। गोपियों के साथ जिस कृष्ण का पति-रूप में संबंध दिखाना कवि को अभीष्ट है, उसके बाल-रूप और बाल-स्वभाव का वर्णन करके कवि आरंभ से ही मनुष्य-मात्र को उन पर मुग्ध कर लेना चाहता है। कृष्ण का बाल-रूप और बाल-लीलाएँ माता-पिता को तो मुग्ध करती ही हैं, उनके गाँव के अन्य व्यक्ति भी उनको देखकर मुग्ध हो जाते हैं। यहाँ तक कि मार्ग चलते यात्री भी एक बार उन्हें देखना चाहते हैं। यदि ध्यान से देखें, तो ज्ञात होगा कि सूर-काव्य में हमें कृष्ण का लौकिक जीवन-चरित्र ही मिलता है। बालक बनकर वे लीलाएँ करते हैं, युवक होने पर वे प्रेम करते हैं और आवश्यक कार्य से 'परदेश' जाते हैं। कवि की दृष्टि इसके साथ पारलौकिक जीवन की भी ओर चल रही है। वह उन्हें ईश्वर-रूप में भी देखता है, उनकी भक्ति करता है और विनय के गीत गाता है। मनुष्य-मात्र के लिए दोनों विषय शाश्वत हैं। आदि-काल से वह बालकों का मंजुल रूप और मधुर क्रीड़ाएँ देखता चला आ रहा है। प्रेम की रसमय लीलाएँ उसने की है, और अपने जीवन के अंतिम दिनों में उसने संसार से विरक्त होकर ईश्वर-भक्ति का गान भी किया है।

उक्त - विवेचना का उद्देश्य यह दिखाना है कि सूरदास ने 'भागवत' के क्रम का अनुकरण भले ही किया हो, उसकी कथा सुनकर भले ही उन्होंने अपने पदों को रचना आरंभ किया हो; परंतु वर्णन की विशदता और विषय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना के लिए उन्होंने स्वानुभूति से ही काम लिया। हाँ, पौराणिक कहानियों में उनका मन नहीं रमा, और उन्हें सुनकर ही उन्होंने पदबद्ध कर दिया—कवि - जनोचित स्वतंत्रता और रचना - कुशलता का इन कथाओं के वर्णन में प्रयोग न करके जैसे उन्हें अपने प्रिय विषय के लिए ही संचित रखा। राम कथा - वर्णन भी ऐसा ही है। उसका क्रम वाल्मीकि रामायण से कुछ मिलता जुलता है। इसके उदाहरण में जनकपुरी से अयोध्या लौटते समय होने वाली राम - परशुराम - भेंट है। तुलसी के मानस की रचना और प्रचार उस समय अधिक हुआ ही न होगा, तब बेचारे सूर उनका अनुकरण कैसे करते? अतः इस प्रसंग को लेकर तुलसी के मानस का नाम रखना हम अनुचित ही समझते हैं।

गीतिकाव्य है या महाकाव्य?

'सूरसागर' में कृष्ण की पूरी तो नहीं, परंतु अधिकांश जीवन - कथा अवश्य मिलती है। क्रमानुसार उन्हें इस प्रकार सजा भी दिया गया है कि उनके

पढ़ने से कथानक का साधारण परिचय मिल जाय। ऐसी दशा में प्रश्न हो सकता है कि 'सूरसागर' को गीतिकाव्य कैसे माना जाय? यह ठीक है कि कृष्ण के व्रज-निवास की अधिकांश घटनाओं के संबंध में पद हमें 'सूरसागर' में मिलते हैं; परंतु यह भी ठीक है कि अन्य गीतिकाव्यों के रचयिताओं की भाँति सूरदास जी की वृत्ति भी इन विवरणात्मक कथाओं में रमी नहीं है। उनका उद्देश्य कृष्ण की पूरी जीवन-गाथा लिखना था ही नहीं। वे भक्त कवि थे, और भक्ति के आवेश में उन्होंने अपने इष्टदेव की जीवन-लीलाओं के संबंध में पदों की रचना की थी। केवल आवेश में कोई कवि किसी नायक की जीवन-गाथा कह ही नहीं सकता। दूसरे शब्दों में, 'सूरसागर' को गीतिकाव्य मानने का सबसे प्रमुख कारण यह है कि यही बात कवि को इष्ट थी। उसने स्वयं 'सूर-सागर' की गीतिकाव्य के रूप में रचना की, यद्यपि उनके गीतों का विषय भावपूर्ण और सरस हृदयोद्गारों के साथ-साथ कृष्ण-जीवन की चुनी हुई मनोरंजक, मधुर सरस लीलाएँ भी हैं। दूसरी बात यह है कि सूरदास अपने उपास्यदेव का संपूर्ण जीवन-चरित्र न लिख कर केवल उन मर्मस्पर्शी और मनोहर घटनाओं का वर्णन करना चाहते थे, जो भक्तों के काम की हों। यही कारण है कि बालकृष्ण द्वारा अनेक राक्षसों

का वध उन्होंने एक ही पद में कर दिया है—किसी पूर्ण युद्ध का विस्तृत वर्णन नहीं किया, क्योंकि भक्तों के लिए 'राक्षस किस तरह मारा गया' जानने की अपेक्षा केवल इतना जानना पर्याप्त है कि उनके इष्टदेव में राक्षसों को मारने की शक्ति है और उन्होंने दुष्टों का संहार किया है। तीसरी बात यह कि कृष्ण-जीवन का पूर्ण क्रमबद्ध इतिहास 'सूरसागर' में नहीं मिलता। फलतः अनेक स्थानों पर वर्णन की विषमता मिलती है। महाकाव्यकार में यह प्रवृत्ति नहीं होती। अतः 'सूरसागर' को गीतिकाव्य ही मान सकते हैं, जिसमें तत्संबंधी सभी विशेषताएँ प्रचुर मात्रा में वर्तमान हैं।

अलोचना

'सूरसागर' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि काव्य, प्रेम और संगीत तीनों विस्तृत, गहन और मानव-हृदय से आदि काल से संबंधित प्रिय विषयों के प्रेमियों की उससे मधुर तृप्ति होती है। काव्य के प्रेमियों के लिए 'सूरसागर' कला की किसी भी उच्चकोटि की कृति-सा आनंददायक है। प्रेम और वात्सल्य के अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन प्रेमियों और सहृदयों का हृदय हर लेता है। साथ ही, सरल जीवन का स्वाभाविक प्रभाव भी हमें उसमें मिलता है। सारांश

यह कि हिंदी-साहित्य में 'सूरसागर' एक अपूर्व ग्रंथ है। उसकी समता एक रत्नाकर से की जा सकती है। उसका एक एक पद रत्न की भाँति बहु-मूल्य है। कुछ पद साधारण भी हैं; परंतु इनसे सूर के अनुपम रत्नाकर की महिमा नहीं घटती। अभी इस रत्नाकर के अमूल्य रत्नों के पारखी कम हैं। अधिकांश ने केवल रत्नाकर का नाम सुन कर ही प्रशंसा के पुल बाँध दिए हैं। जिस दिन इसके सच्चे रत्नों का उचित मूल्य आँका जायगा, उस दिन सूर का स्थान विश्व-साहित्य में बहुत ऊँचा होगा।

हिंदी कविता का विकास

हिंदी कविता का जन्म सं० १०५० के आस-पास हुआ। उस समय से अब तक, लगभग ६०० वर्षों में-सैकड़ों कवियों ने विविध विषयों के सहस्रों काव्य-ग्रंथों की रचना की है। इस दीर्घकालीन कविता के इतिहास को साहित्य के आलोचकों ने, विषय की प्रधानता की दृष्टि से, चार कालों में विभक्त किया है; जिस विषय की जिस समय प्रधानता रही, वही नाम उस काल का रखा है—

(१) वीरगाथा या चारणकाल (सं० १०५० से १३७५)
(२) भक्तिकाल (सं० १३७५ से १७००)
(३) रीतिकाल (सं० १७०० से १९००)
(४) आधुनिककाल (सं० १९०० से)

इन कालों में प्रधानता एक ही विषय की रही, यद्यपि रचनाएँ अनेक विषयों की हुईं। दूसरी बात यह कि एक विषय अपने काल की अवधि तक ही समाप्त नहीं हो जाता है। वीरगाथा-काल और भक्ति-काल की सी वीर रस और भक्ति-संबंधी रचनाएँ अब तक हो रही हैं और निसंदेह आगे भी होती रहेंगी। काव्य की दृष्टि से वीरगाथा काल में

हिंदी कविता का आरंभ हुआ। उस समय कवि भाव से अधिक भाषा की सुंदरता का ध्यान रखते थे। यह बात सभी देशों की आरंभ-कालीन कविता में देखने को मिलती है। भक्ति-युग में भाषा और भाव दोनों की समान रूप से उन्नति हुई। रीति-कालीन कवियों का ध्यान शृंगार की ओर अधिक रहा। उस समय अधिकांश कवि दरबार में रहकर अपने आश्रय-दाताओं के प्रसन्न करने के लिए प्रयत्नशील थे। इसलिए एक ओर तो उन्होंने अपनी भाषा को सजाने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर अपनी विद्वता-प्रदर्शन का। आधुनिक काल में कवियों ने जीवन की विविध समस्याओं को अपनी कविता का विषय बनाया और परंपरागत रूढ़ियों का सहारा न लेकर आज वे भावों में नवीनता का समावेश कर रहे हैं।

साहित्य का समाज से घनिष्ठ संबंध है। साहित्य पर समाज का और समाज पर साहित्य का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। हिंदी-कविता के विकास को भी देश की स्थिति बराबर प्रभावित करती रही है। इसलिए प्रत्येक काल की प्रवृत्ति को ठीक-ठीक समझने के लिये हमें देशकाल की स्थिति से परिचित रहना चाहिए।

(१) वीरगाथा - काल की प्रवृत्ति

हिंदी - काव्य का जन्म जिस समय हुआ उत्तरी भारत में उस समय हिंदुओं के छोटे - छोटे राज्य थे। इनके राजपूत राजा कभी तो अपने प्रतिद्वंदियों को नीचा दिखाकर अपना मान - गौरव बढ़ाने और कभी केवल अपनी शूरता - वीरता दिखाने के लिए परस्पर युद्ध किया करते थे। मान - अपमान का प्रश्न उस समय आता था जब एक राजा अपने निकटवर्ती की कन्या के रूप - गुण पर मुग्ध हो उससे प्रेम करने लगता और उसके पिता से अपने विवाह का प्रस्ताव करता था। पड़ोसी राजा अपनी कन्या का विवाह उसके साथ करने में और प्रेमी राजा अपना प्रस्ताव स्वीकृत न होने में अपना अपमान समझता। बस, दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ होने लगतीं। आगे चलकर देश पर धन - लालसा और विजय - कामना से मुसलमानों ने आक्रमण करना आरंभ किए। इनका मार्ग रोकने के लिए भी राजपूतों को युद्ध करने पड़े। यही क्रम चौदहवीं - पंद्रहवीं शताब्दी तक चलता रहा। युद्ध के समय सैनिकों को उत्साहित करने की आवश्यकता होती है। राजपूत राजाओं के दरबारों में भी बहुत से चारण और भाट रहा करते थे जो युद्ध के समय तो अपने आश्रय - दाताओं और

उनके पूर्वजों के यश, उनकी वीरता, रण-कुशलता आदि का गान करते और शांति के समय उनकी दान-प्रियता, गुण-ग्राहकता, और ऐश्वर्य आदि की प्रशंसा। विवाह के लिए जब कन्या-हरण और युद्ध होते थे तब रूप, गुण, विरह, प्रेम आदि भी कविता के विषय बन जाते थे; यद्यपि इनका स्थान गौण रहता था।

ऐसी स्थिति में दरबारी चारणों और भाटों ने वीर-रस की जो कविता की वह या तो प्रबंध काव्यों के रूप में है या वीर-गीतों के। कह सकते हैं कि शांति के समय में प्रथम और युद्ध-काल में द्वितीय प्रकार की रचनाएँ अधिकतर होती थीं। 'पृथ्वीराजरासो', 'बीसलदेवरासो', 'खुमानरासो', 'जयचंद-प्रकाश', 'जयमयंक-जसचंद्रिका', 'आल्हा' आदि इस युग के प्रसिद्ध प्रबंध-काव्य और वीर-गीत हैं। इनकी भाषा दो प्रकार की है। एक तो पुरानी अपभ्रंश भाषा जिसमें साहित्यिक प्राकृत के बहुत से संज्ञा और क्रिया शब्दों, कारक चिन्हों और विभक्तियों का कवियों ने स्वतंत्रता-पूर्वक प्रयोग किया है और दूसरी वह जो जन-साधारण की बोलचाल की भाषा थी। प्रथम रूप को पूर्व-प्रचलित साहित्यिक प्राकृत का अवशेष-मात्र समझना चाहिए जिसका, क्षेत्र सीमित हो जाने के कारण धीरे-धीरे ह्रास हो

गया। द्वितीय रूप जो साहित्य-रचना के लिए नया ही था, नित्य-प्रति उन्नति करता गया और आगे चलकर व्रजभाषा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन दोनों को डिंगल और पिंगल नाम से पुकारा गया है। वस्तुतः वीर काव्य-रचना के लिए प्रथम रूप ही अधिक उपयुक्त था और इसमें कवियों को पूरी-पूरी सफलता भी मिली।

इस काल में वीर रस की रचना के उपयुक्त छंदों का चुनाव कवियों को करना पड़ा। उन्होंने अधिकतर दोहा, कवित्त, छप्पय, मंदाक्रांता, साटक, शार्दूलविक्रिडित, तोमर, मुक्तादाम, भुजंगप्रयात तथा अन्य ऐसे ही छंद चुने, जिनमें वीररस का पूर्ण प्रवाह रहे। अलंकारों में उत्प्रेक्षा, रूपक अतिशयोक्ति और अत्युक्ति का प्रयोग कवियों ने खूब किया। कारण स्पष्ट है। इस युग के कवि अपने आश्रयदाताओं की कीर्ति का गान, उनके कार्यों और विचारों का समर्थन, इस प्रकार करना चाहते थे कि वे प्रसन्न रहें। फल यह हुआ कि स्वामी तो प्रसन्न रहे; परंतु कविता का क्षेत्र संकुचित हो गया। रसों में केवल शांत को छोड़ कर शेष प्रायः सभी के उदाहरण इस युग की कविता में हैं। शृंगार रस से ग्रंथों का आरंभ होता है; अद्भुत सेना और

शक्ति के वर्णन में ; वीर, रौद्र और बीभत्स युद्ध-क्षेत्र में; करुण युद्ध के पश्चात् और हास्य दरबारी मनोरंजन में मिलते हैं।

इस युग की कृतियाँ अपने मूल-रूप में आज उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए हम इनका साहित्यिक मूल्य निर्धारित नहीं कर पाते। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इस युग का साहित्य कई दृष्टियों से विशेष महत्व का है। कवियों ने वीर रस का जो वर्णन किया है वह बहुत-कुछ उनका आँखों-देखा होता था। सेना का सजना, युद्ध-यात्रा, व्यूह-निर्माण, आक्रमण की रीति, योद्धाओं की ललकार, युद्ध का कोलाहल, सभी-कुछ वे देखते थे। इसलिए इनका वर्णन उन्होंने बहुत ओजपूर्ण और सजीव किया है। यह ठीक है कि जिन स्थलों पर अपने स्वामियों की बनावटी अत्युक्ति-पूर्ण प्रशंसा की है, कवित्व की दृष्टि से वे बहुत साधारण हैं; परंतु अन्यत्र इस युग के साहित्य में जो सच्चा वीर रस-वर्णन मिलता है वह हिंदी साहित्य में अद्वितीय है। आगे भी कवियों ने उसी ढंग की प्रशंसात्मक कविता खूब लिखी, अपने स्वामियों की खूब बड़ाई की, परंतु सच्चे वीरोद्गारों के अभाव में वह जनता को प्रभावित न कर सकी।

(२) भक्तिकाल की प्रवृत्ति

वीरगाथाकाल का अंत होने तक देश में मुसलमानों के पैर जम गए। अनेक हिंदू राजाओं ने उनकी अधीनता स्वीकार करली। राजपूताने में कुछ सच्चे राजपूत अपनी स्वतंत्रता के लिए अब भी युद्ध कर रहे थे; परंतु युद्ध के लिए उनके पास न पूर्ववत् साधन थे और न उत्साह ही था, प्रायः विवश होकर वे युद्ध में प्रवृत्त होते थे। राजपूत सैनिकों को उत्साहित करने का महत्व-पूर्ण कार्य चारण और भाट अब भी कर रहे थे; परंतु उनमें भी पूर्ववत् उमंग नहीं थी। फल यह हुआ कि वीरगाथाओं की रचना का क्रम धीरे-धीरे शिथिल हो गया।

उधर जिन स्थानों में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो चुका था, धर्म की चर्चा बड़े जोर से होने लगी। बौद्ध-धर्म के ह्रास के समय से वज्रयानी सिद्ध, कापालिक, नाथपंथी जोगी आदि जन-साधारण के धर्म का विरोध करके अनेकानेक पंथों का प्रचलन कर रहे थे। सनातनी ब्राह्मणों से इनका विरोध चल ही रहा था कि धर्मांध शक्तिशाली और विजयी मुसलमानों ने अपने धर्म का प्रचार करना आरंभ किया। हिंदुओं के मंदिर ढाहे गए, मूर्तियाँ तोड़ी गईं, तलवार के जोर पर यहाँ के निवासियों को विधर्मी

बनाया गया। इस धार्मिक विद्रोह को मिटाने के लिए दो प्रकार के प्रयत्न किए गए। एक तो यह कि आडंबर-रहित धर्म की झलक दिखाना और दूसरा, हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों को शुद्ध रूप में जनता के सामने रखना। पहला काम हीन और उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाने वाले वर्ण ने किया और दूसरा, उदार सूफीसंतों और राम-कृष्ण के हिंदू भक्तों ने। इसलिए भक्तिकाल में हिंदी कविता की चार धाराएँ लगभग एक साथ ही निस्तृत हुईं जो इस प्रकार हैं—

(क) संतकाव्य-धारा (ख) सूफीकाव्य-धारा
(ग) कृष्णकाव्य-धारा (घ) रामकाव्य-धारा

इन चारों धाराओं के प्रवर्तक साधु और संत हैं। भक्ति और ज्ञान इन सबका केंद्रित विषय है। नीचे प्रत्येक धारा की कविता का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

(क) संतकाव्य-धारा

बौद्धधर्म के ह्रास के पश्चात जब ब्राह्मण-धर्म की शक्ति बढ़ी तब नीची जातियों को पुनः हीन दृष्टि से देखा जाने लगा। नीची जातियों ने इसका स्वाभाविक विरोध किया। उन्होंने स्वयं नए-नए संप्रदाय और पंथ चलाए। वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी जोगियों

में भी इस वर्ग के संतों की संख्या अधिक थी। मुसलमानों की धर्मांधता ने इन संतों के कार्य को और भी उत्तेजना प्रदान की। जाति-भेद वर्ण-व्यवस्था, छुआछूत आदि का विरोध वे पहले से ही कर रहे थे, अब पाखंड, धर्मांधता आदि का विरोध करने लगे। मुसलमानों के रोजा, नमाज, हज, ताजिएदारी से इन्हें एक ओर चिढ़ थी, और हिंदुओं के व्रत, श्राद्ध, तीर्थयात्रा और कर्मकांड से दूसरी ओर। भक्ति और ज्ञान के क्षेत्र में इन्होंने निर्गुण की उपासना पर जोर दिया, यद्यपि कहीं-कहीं इनका ब्रह्म निर्गुण-सगुण रूप भी हो गया है। वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म ज्ञान का ऐसा विषय है जिसका चिंतन स्वयं किया जा सकता है; प्रचार के अथवा उपासना के उद्देश्य से जनता को समझाने के लिए निर्गुण में गुणों का आरोप करना ही पड़ेगा। संतों ने भी ईश्वर का चिंतन जितना किया उससे कहीं अधिक उसकी भक्ति की, यद्यपि उपदेश वे कुछ और देते थे। फल यह हुआ कि आगे के संतों के सिद्धांत बहुत-कुछ अस्पष्ट हो गए।

संत-कवियों, विशेषतः कबीर की रचनाओं में ईश्वर के संबंध में रहस्यात्मक संकेत मिलते हैं। कवि जब निर्गुण ईश्वर का चिंतन करके उसका अनुभव करने लगता है तब उसकी उक्तियाँ स्पष्ट नहीं होने पातीं

क्योंकि उसे अपनी स्थिति का पूर्ण ज्ञान ही नहीं रह जाता ; वह केवल रहस्य - पूर्ण संकेतों द्वारा ही उसकी अनुभूति व्यक्त करना है । दूसरी बात यह है कि माता , पिता , स्त्री , पुरुष होकर संसार में जन्म लेना संत-कवियों ने मनुष्य के लिए ईश्वरीय वियोग का अवसर माना है । इन लौकिक संबंधों को ध्यान में रखकर कभी तो संतकवि ईश्वर को अपना पिता कहते हैं कभी माता और कभी पति या प्रियतम । आध्यात्मिक दृष्टि से ये संकेत भी रहस्यात्मक ही हैं ।

संतों ने ईश्वर को राम , रहीम , गोविंद , हरी आदि अनेक नामों से पुकारा है ; परंतु आशय उनका सगुण और निर्गुण से परे अपने ब्रह्म से है । सत्पुरुष (निर्गुण ब्रह्म) सद्गुरु , नाम , सत्संग , संतोष , धीरज , क्षमा , दया , साधु , सबकी महिमा उन्होंने गाई है । जीवन की सरलता और रहन - सहन की सत्यता के वे पक्षपाती थे । उनके धार्मिक सिद्धांत , भारतीय ब्रह्मवाद और अद्वैतवाद तथा मुसलमानी खुदावाद के सिद्धांतों के मेल से बने थे , सब की विशेषताएँ उन्होंने ग्रहण करली थीं ।

अधिक पढ़े लिखे न होने के कारण संतों ने जो कुछ लिखा है वह सत्संग के आधार पर ही । पर्यटन

से इन्हें प्रेम था। इसलिए सभी तरह के लोगों और साधु-संतों से मिलने-जुलने का इनको अवसर मिला करता था। अशिक्षा के कारण ही भाषा को सजाने और छंदों को पिंगल के नियमों की कसौटी पर कसने से ये कवि वंचित रहे। भ्रमण के फलस्वरूप इनकी भाषा में अनेक बोलियों और भाषाओं के शब्द मिलते हैं। छंदों में यद्यपि कवित्त, सवैए चौपाई भी संतों ने लिखी हैं तथापि दोहा, झूलना और पदों की रचना में ही इन्होंने विशेष सफलता प्राप्त की है।

सारांश यह कि पूर्व प्रचलित नागपंथी और सिद्ध-साहित्य के विकसित रूप में संत-काव्य हमारे सामने आया। सारग्राहिणी बुद्धि के कारण संतों ने तत्कालीन सिद्धांतों की विषशेताएँ अपना कर जीवन की सरलता, एकरसता और सत्यता पर जोर दिया। यद्यपि उनकी सामाजिक उच्छृंखलता से शिष्ट वर्ग ने उनका विशेष सम्मान नहीं किया, तथापि इधर संत-साहित्य, विशेषकर कबीर-साहित्य का बहुत सम्मान हो रहा है।

(ख) सूफी काव्य-धारा

सूफी संतों ने हिंदुओं की प्रचलित कहानियों को अपनी कल्पना के सहारे एक नवीन रूप देकर लिखा। प्रेमी-प्रेमिका और स्त्री-पुरुष के लौकिक प्रेम-पूर्ण संबंध को लेकर ये कवि ईश्वर और जीव के प्रेम

का आभास देते हैं। इन प्रेममार्गी कवियों की कहानियों का कथानक सीधा-सादा है। रूपगुण-संपन्न किसी राजकुमारी के लिए एक राजकुमार का मुग्ध होना, उसका पता लगाने को घर से निकलना, सैकड़ों कष्टों को झेल कर उसे प्राप्त करना। जीव भी इसी प्रकार ईश्वर की अलौकिकता पर मुग्ध है, उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है और उसकी प्राप्ति का सौभाग्य उसी को मिल सकता है जो राजकुमार की तरह सैकड़ों आपत्तियाँ सहने के लिये तैयार हो।

इन प्रेम-कथाओं के द्वारा सूफी अपने मत का प्रतिपादन और प्रचार करते हैं। हिंदुओं की कथाएँ लेकर उन्होंने अपने मत के अनुसार उन्हें विकसित और समाप्त किया है और अंत में कथा का उद्देश्य भी लिख दिया है। हिंदू-जीवन की झलक इन कहानियों में स्पष्ट मिलती है। भारतीय अद्वैतवाद की बहुत सी बातों को लेकर, हिंदू देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा दिखाकर अपने प्रेम को इन्होंने व्यक्त किया है। धार्मिक कट्टरता इनको छू नहीं गई है। इस प्रकार इन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों की व्यावहारिक एकता के लिये उद्योग किया।

सूफी धर्म के अनुसार ईश्वरीय प्रेम की स्पष्ट व्याख्या नहीं की जा सकती। इस प्रेम को व्यक्त

करने के लिए ही उन्हें कल्पित कहानियों का सहारा लेना पड़ा। लौकिक प्रेम का जो वर्णन उन्होंने किया उससे उनका आशय अलौकिक सत्ता के प्रति प्रेम से ही था। यह संबंध वे रहस्य-पूर्ण संकेतों द्वारा ही व्यक्त कर सके हैं। सूफी-साहित्य में जो रहस्यवाद पाया जाता है, उसका कारण और स्वरूप यही है।

सूफी कवियों ने अवधी भाषा में कविता की है इनकी कविता में शुद्ध अवधी की स्वाभाविक मिठास है, उस पर संस्कृत-शब्दावली की साहित्यिकता का प्रभाव नहीं पड़ा। छंद इनके दोहा और चौपाई हैं। किसी सूफी कवि ने ढाई और किसी ने साढ़े तीन चौपाइयों के बाद एक दोहा लिखा है, यद्यपि होना चाहिए प्रति चार चौपाइयों के बाद एक दोहे का क्रम। सूफी कवियों की इस भूल का कारण पिंगल के नियमों का पूर्ण ज्ञान न होना है।

प्रेम-काव्यों की रचना हिंदुओं और मुसलमानों दोनों ने की है। सूफियों की रचना सोद्देश्य है। उनमें उनके सिद्धांत मिलते हैं। साहित्यिक भाषा से विशेष परिचित न होने के कारण उन्होंने ठेठ अवधी को अपनाया है। परंतु हिंदू लेखकों ने, सूफी सिद्धांतों से परिचित न होने के कारण, कोरे प्रेमकाव्यों की रचना की है, जिन में कवित्व तो अवश्य है परंतु

कहानी, परोक्ष के प्रति संकेतों से रहित, लौकिक प्रेम-पूर्ण ही है। इनकी भाषा अपेक्षाकृत साहित्यिक है।

(ग) रामकाव्य - धारा

स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद को जनता के अयोग्य समझकर स्वामी रामानुज ने वैष्णव श्री - संप्रदाय की स्थापना की। इन्हीं की शिष्य परंपरा में रामानंद ने सभी जातियों में रामभक्ति का प्रचार किया। उन्होंने तथा उनके शिष्यों ने अनेक ग्रंथ रच कर राम - कथा की महिमा जन - साधारण को समझाना आरंभ किया। रामभक्ति का समुचित प्रचार तुलसीदास के समय से हुआ। रामानंद और उनके शिष्यों के ग्रंथ तो फुटकर पदों के संग्रह मात्र थे, तुलसीदास ने प्रबंध और मुक्तक - काव्य के रूपों में राम - कथा कही। आगे चलकर हिंदी के अनेक कवियों ने राम कथा को काव्य का विषय बनाया। इनमें केशवदास और सेनापति विशेष प्रसिद्ध हैं। तुलसी इस परंपरा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

रामकाव्य अवधी और व्रजभाषा, दोनों में लिखा गया है। इन दोनों ही भाषाओं के साहित्यिक रूपों को कवियों ने अपनाया। व्रजभाषा के विकास में कृष्ण-भक्त कवियों का भी बहुत हाथ रहा, परंतु अवधी को साहित्यिक रूप प्रदान करने वाले राम - भक्तिधारा के कवि ही थे। इनकी भाषा में बुंदेली, भोजपुरी,

अरबी, फारसी, सभी भाषाओं के प्रचलित शब्द मिलते हैं। प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग इन कवियों ने खूब किया है।

रामकथा, जैसा कहा जा चुका है प्रबंध और मुक्तक काव्य, दोनों रूपों में कही गई है। प्रबंध काव्यों में तुलसी का 'मानस' और केशव की 'राम चंद्रिका', दो ही प्रसिद्ध हैं। 'मानस' में अधिकतर दोहे-चौपाई—चार-चौपाइयों के बाद एक दोहा—का प्रयोग किया गया है; परंतु 'रामचंद्रिका' में तो छंद-शास्त्र में वर्णित प्रायः सभी छंद मिलते हैं। मुक्तक काव्यों के लिए कवियों ने दोहा, सोरठा, छप्पय, सवैया, कुंडलिया, कवित्त, सभी छोटे-बड़े छंदों का प्रयोग किया है।

रामकथा में जीवन के प्रायः सभी दृश्य मिलतें हैं। कवियों ने राम के संपूर्ण जीवन से हमें परिचित कराया है। मार्मिक स्थलों की विशद व्याख्या करके उन्होंने उनकी विशेषता भी जनता को समझा दी है। यही कारण है कि काव्य में नवों रसों के वर्णन मिलते हैं। अधिकांश राम-भक्त-कवियों का उद्देश्य सगुण रूप राम की भक्ति का प्रचार करना था। उन्होंने बार-बार दास-रूप में राम से निवेदन किया है। इसलिए इस धारा का प्रधान रस हम शांत

मान सकते हैं। शेष सभी रसों के साथ हास्य के उदाहरण भी हमें इसमें मिलते हैं।

सारांश यह कि राम-भक्ति-शाखा के कवियों ने हिंदी भाषा और काव्य-शैलियों की जो उन्नति की वह अभूतपूर्व थी। भाव-पक्ष और कला-पक्ष, काव्य के दोनों पक्षों की दृष्टि से रामभक्ति-काव्य बहुत उन्नत है। तुलसी, भाव पक्ष; और केशव, कला पक्ष; की दृष्टि से राम-भक्ति-धारा के ही नहीं समस्त हिंदी कवियों में श्रेष्ठ हैं।

(घ) कृष्ण-काव्य-धारा

वैष्णव धर्म के प्रवर्तकों में रामानंद जिस प्रकार रामभक्ति का प्रचार कर रहे थे, उसी प्रकार स्वामी बल्लभाचार्य जी ने १६ वीं शताब्दी में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने और इनके शिष्यों ने कृष्ण की व्रजलीला का गान करना आरंभ किया। व्रज में कृष्ण जी ने बाल-लीला की है और गोपियों से प्रेम किया। इन्हीं दो प्रधान विषयों को लेकर कृष्ण-भक्ति-धारा के सूरदास, नंददास, मीराबाई, रसखान आदि अनेक प्रसिद्ध कवियों और कवियित्रियों ने सहस्रों पदों की रचना की। इनकी कथा का आधार श्रीमद्भागवत का दशम स्कंध है। परंतु सूरदास के अतिरिक्त अन्य प्रायः सभी कवियों की कविता का

मुख्य विषय कृष्ण की प्रेम - लीला—रास - वर्णन, गोपियों का विरह और भ्रमरगीत आदि—है - भागवत का आध्यात्मिक आशय यह है कि कृष्ण परमात्मा हैं और गोपियाँ जीवात्मा, जो परमात्मा के विरह में दुखी हैं और उससे मिलने के लिए बहुत उत्सुक। उक्त कवियों की दृष्टि तो प्रेम लीला - वर्णन करते समय इस आध्यात्मिक रहस्य की ओर भी रही परंतु आगे के कवियों ने प्रेम - लीला का वर्णन लौकिक दृष्टि से ही किया; उन्होंने साधारण स्त्री - पुरुष के वासनामय प्रेम का वर्णन करके नायक नायिका का नाम भी कृष्ण और राधा रख दिया। फल यह हुआ कि उनका शृंगार - वर्णन कहीं - कहीं बहुत अश्लील हो गया है।

समस्त कृष्ण काव्य व्रजभाषा में लिखा गया है। इसलिए कृष्ण - भक्त - कवियों द्वारा व्रजभाषा के साहित्यिक विकास में, उसके परिष्कार और परिमार्जन में बहुत सहायता मिली। व्रजभाषा स्वभावतः मधुर और कोमल है। कृष्ण की बाल और प्रेम - लीला का वर्णन करने के लिए ऐसी सरसता, कोमलता और मधुरतायुक्त भाषा का अपनाया जाना और तत्पश्चात् उसका विकास होना स्वाभाविक ही है। जिन कृष्ण - भक्त - कवियों के नाम ऊपर लिखे गए हैं उनकी भाषा में साहित्यिकिता, मधुरता और प्रवाह

होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव है। आगे के कवियों ने, जिन्होंने कृष्ण-लीलाओं को आध्यात्मिक अर्थ भूल कर केवल लौकिक दृष्टि से अपनाया, उसे सजाने और अलंकृत करने का परिश्रम-साध्य प्रयास किया। इससे उसकी मधुरता तो अवश्य बढ़ी परंतु उसमें कृत्रिमता भी आ गई।

कृष्ण-काव्य में मुख्यतः शृंगार रस की प्रधानता है। गोपी-कृष्ण की प्रेम-लीला में संयोग और उनके विरह में विप्रलंभ शृंगार के बहुत सुंदर और मार्मिक वर्णन मिलते हैं। सूरदास ने शृंगार के अतिरिक्त वात्सल्य का भी इतना सुंदर और विस्तृत वर्णन किया है कि आलोचक उसे दसवाँ रस मानने लगे हैं। इन दोनों रसों की सभी वृत्तियाँ और अंतर्दशाएँ कृष्ण-काव्य में वर्तमान हैं। इनके पश्चात् इन कवियों ने विनय-पदों में शांत; कृष्ण के अलौकिक कार्य-वर्णन में अद्भुत और वीर रसों का वर्णन किया है। कृष्ण-जीवन के सीमित क्षेत्र को अपनाने पर इन कवियों से इनसे अधिक रसों की कविता की आशा करनी भी नहीं चाहिए।

प्रायः समस्त कृष्ण-काव्य मुक्तक-रूप में है। भक्त-कवियों का उद्देश्य अपने आराध्यदेव की लीला का गान करना होता है। इसलिए कृष्ण-काव्य का

अधिकांश गेय पदों में है। इनके लिए विविध राग-रागनियों का प्रयोग किया गया है। दोहा चौपाई और रोला छंद भी कुछ कवियों ने अपनाए हैं। अलंकारों का सहारा भी इन कवियों ने लिया; परंतु इनके चक्कर में वे अधिक नहीं पड़े हैं।

समीक्षा

सारांश यह कि भक्तिकाल की कविता की मुख्य प्रवृत्ति धर्म की ओर रही। भक्त-कवियों ने स्वांतःसुखाय रचना की और इससे उन्होंने वेही विषय अपनाए जिनमें उनकी प्रवृत्ति लीन हो सकी। इस युग के काव्य में कवियों के जो आंतरिक हृदयोद्गार मिलते हैं उसका यही प्रधान कारण है। साहित्यिक भाषाओं का इन कवियों के कारण बहुत ही स्वाभाविक विकास हुआ। शुद्ध काव्य की दृष्टि से हिंदी कविता के विकास का यह स्वर्णयुग है। इस युग के तुलसी और सूर की चरण-वंदना करके ही परवर्ती कवि अपने को धन्य समझते रहे हैं।

(३) रीति-काल की प्रवृत्ति

कविता की जब समुचित उन्नति हो जाती है तब कुछ कवियों का ध्यान भाषा को सजाने और काव्यांगों का शास्त्रीय निरुपण करने की ओर जाता है। भक्तिकाल में हिंदी कविता की ज्यों-ज्यों उन्नति

होती गई, त्यों-त्यों कवि इस कार्य में प्रवृत्त होते गए और भक्तियुग के पश्चात् तो कवियों का ध्यान शुद्ध काव्य की ओर से हट कर केवल उसके अंगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरुपण करने की ओर ही रह गया। जिन ग्रंथों में यह शास्त्रीय निरुपण रहता है उन्हें लक्षण या रीति-ग्रंथ कहते हैं। इसी से इस काल को रीतिकाल कहा जाता है।

संस्कृत के आचार्य बहुत पहले यह कार्य कर चुके थे। वहाँ कुछ लोग रस को काव्य की आत्मा मानते थे, कुछ अलंकार को, कुछ ध्वनि को। इस प्रकार वहाँ रस-संप्रदाय, अलंकार-संप्रदाय, ध्वनि-संप्रदाय आदि प्रचलित हुए। हिंदी के रीति कालीन कवियों ने संस्कृत के इन संप्रदायों के प्रमुख आचार्यों के विचारों के आधार पर ही नए ग्रंथों का रचना आरंभ किया। कुछ कवि छंद-शास्त्र पर भी ग्रंथ रचने लगे। संस्कृत में कवियों और आचार्यों का क्षेत्र प्रायः अलग रहा, परंतु हिंदी के कवियों ने आचार्यों का काम भी करना शुरू किया। फल यह हुआ कि संस्कृत में तो काव्य की उन्नति के साथ काव्य-शास्त्र की भी उन्नति हुई; परंतु हिंदी में कविता का क्षेत्र तो सीमित हो ही गया और काव्य-शास्त्र का भी स्वतंत्र और समुचित विकास न हो सका। हिंदी के आचार्य कवियों ने रसों, अलंकारों या छंदों के

पूर्ण - अपूर्ण लक्षण आरंभ के एक - आध चरण में लिख, नीचे उसका उदाहरण देने में ही अपना कर्तव्य पूरा समझ लिया है। केशवदास, बिहारी, मतिराम, भूषण, देव, भिखारीदास, पद्माकर, इस युग के प्रमुख आचार्य कवि हैं। इनमें से अधिकांश अपनी प्रतिभा, सहृदयता और कवित्वशक्ति के कारण बहुत सुंदर कविता कर सके हैं।

रीतिकालीन कवियों ने मुख्यतः व्रजभाषा में कविता की। मधुरता, कोमलात और साहित्यिकता की दृष्टि से इनकी भाषा बहुत उच्च कोटि की है और कहीं - कहीं तो वह भक्तिकालीन तुलसी जैसे महाकवियों की भाषा से भी बढ़ जाती है। इन कवियों की व्रजभाषा में कभी - कभी अवधी का मिश्रण भी मिलता है। अरबी - फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग तो प्रायः सभी कवियों ने किया है और भाषा की स्वाभाविकता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक भी था। व्याकरण की शुद्धता और विन्यास - व्यवस्था का कुछ कवियों ने यद्यपि उचित ध्यान नहीं रखा है; तथापि उक्त विशेषताओं के सामने ये दोष नगण्य ही हैं।

इस युग में कवित्त, सवैया और दोहा, इन्हीं तीन छंदों में अधिकांश कवियों ने कविता की। प्रबंध अथवा खंडकाव्य के रूप में जो दो - एक ग्रंथ रचे भी

गए वे विशेष सफल नहीं हैं। कवियों को सफलता केवल मुक्तक कविता में मिली। इस युग के प्रायः सभी प्रमुख कवि राज-दरबारों में रहते और अपने आश्रयदाताओं को कविता सुनाकर प्रसन्न किया करते थे। प्रबंधकाव्य सुनने की न तो उन्हें फुरसत थी और न उनसे उनकी विलासी वृत्ति शांत ही हो सकती थी। इसलिए कवित्त, सवैयों और दोहों में कविता बना कर उन्हें संतुष्ट किया गया। दूसरी बात यह कि रसिक आश्रयदाता शृंगार रस में जितना निमग्न होते थे उतना अन्य किसी में नहीं। शृंगार और उसके अवलंबनों से ही उनकी शारीरिक और मानसिक क्षुधा शांत होती थी। देश की स्थिति और अपनी स्वतंत्रता के लिए चिंतित कुछ राजा वीर रस की कविता का भी स्वागत करते थे। इन दोनों रसों का वर्णन कवित्त और सवैयों में बड़ी सफलता से किया जा सकता है। दोहे का उपयोग कवियों ने केवल शृंगार के लिए किया है यद्यपि आज वियोगि हरि जी ने उसे 'वीर सतसई' की रचना करके वीर-रस वर्णन के उपयुक्त भी सिद्ध कर दिया है। वीर-रस के लिए कभी-कभी छप्पय का भी प्रयोग हुआ है।

सारांश यह कि रीतिकालीन कवियों ने काव्यांगों के शास्त्रीय निरूपण के लिए शृंगाररस को ही मुख्यता अपनाया। कृष्ण-राधा इनके नायक-नायिका बनी।

अपने रसिक स्वामियों की प्रसन्नता के लिए इन्होंने शृंगार की अश्लीलता को भुला दिया। नायिका-भेद, उनका नखशिख, उनका वियोग और संयोग, बस इन्हीं के वर्णन में उन्होंने अपनी समस्त कविता-शक्ति और प्रतिभा का उपयोग किया। सरसता, मधुरता और भाव-पक्ष की दृष्टि से तो इन कवियों की कविता उच्च कोटि की है ही, कला-पक्ष का भी इन्होंने अपूर्व विकास किया। परंतु एक तो क्षेत्र की संकीर्णता और दूसरे, शृंगार की अश्लीलता के कारण इस युग की कविता भक्ति और धर्म-प्राण साधारण जनता द्वारा अधिक सम्मान नहीं प्राप्त कर सकी, यद्यपि रसिकों के लिए उसका मूल्य बहुत अधिक और उसके रचयिताओं का स्थान काफी ऊँचा है।

(४) आधुनिक काल की प्रवृत्ति

सं० १९०० तक देश में अँगरेजी राज्य की जड़ अच्छी तरह जम चुकी थी और काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक के भारतवासी अँगरेजों को अपना शासक मान चुके थे। फिर भी उनके हृदयों में अँगरेजी शासन के प्रति श्रद्धा की अपेक्षा आतंक का भाव ही प्रबल था। सरकार उनकी इस मनोवृत्ति को बदलने का भरसक प्रयत्न कर रही थी। शासक और शासितों के बीच की इस खाई को पाटने का

काम अँगरेजी भाषा से लिया जा रहा था, और लार्ड मेकाले की कृपा से यह सात समुद्र-पार की भाषा हमारे देश के कोने-कोने में अपने पैर पसार रही थी। शिक्षा का माध्यम भी यही था। अतः जितने शिक्षित निकलते उनकी आँखे बिना अँगरेजी का चश्मा चढ़ाए संसार में कुछ देख ही न सकती थीं। इस प्रकार यह योजना आशातीत सफलता पा रही थी। हिंदुस्तानियों के दिमागों पर अँगरेजी सभ्यता और संस्कृति का सिक्का अच्छी तरह जम गया था। हमें 'स्वदेश', 'भारतीय', 'हिंदी', जैसे शब्दों से चिढ़-सी हो गई थी। हमारी चाल-ढाल पर भी विदेशीपन की छाप लगने लगी थी और हम मालिकों का अंधानुकरण करने, एवं उन्हीं के सिखाए गीत गाने में अपना गौरव समझते थे। अपनी विशेषताओं से हम यहाँ तक उदासीन हो गए थे कि अपनी वस्तु को तब तक अच्छा न मानते जब तक कोई विदेशी विद्वान उसकी प्रशंसा न कर देता। किसी देश के पतन की यह चरमसीमा कही जा सकती है।

सौभाग्यवश अँगरेजी और भारतीय सभ्यता के संसर्ग का यह दूषित प्रभाव भारतवासियों पर अधिक काल तक न ठहरा। कुछ ही समय पश्चात् हम संस्कृति और साहित्य के पुनरुद्धार की आवश्यकता

अनुभव करने लगे। देश में अनेक सुधारकों का जन्म हुआ और सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आंदोलन आरंभ हो गए। हिंदी कविता की प्रवृत्ति पर भी इस स्थिति का बहुत प्रभाव पड़ा। कवियों के सामने अब तक शृंगार और भक्ति, दो ही मुख्य विषय थे। नायिका-भेद, नखशिख, संयोग-वियोग, में तो शृंगार के और राधा-कृष्ण-प्रेम और विनय, भक्ति के प्रधान अंग थे। बस इन्हीं विषयों के पुराने कवियों के भाव और कभी-कभी शब्द और वाक्यांश तक लेकर पुरानी धारा के कवि कविता किया करते थे। उक्त स्थिति का प्रभाव पड़ने से कवियों का ध्यान देश की सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक स्थिति की ओर गया और देश-प्रेम, देश-हित, धर्म-सुधार, समाज-सुधार आदि नवीन विषयों पर कविता की जाने लगी।

इस प्रकार आधुनिक काल में एक ओर तो रीति-कालीन कवियों की सी पुरानी काव्य-धारा चली आ रही थी और दूसरी ओर देश की स्थिति से प्रभावित होकर नई धारा का विकास होने लगा। सेवक, सरदार, राजा लक्ष्मणसिंह, नवनीत चौबे, ठाकुर जगमोहनसिंह और बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' पं० रामचंद्र शुक्ल और 'सनेही आदि पुरानी परिपाटी के कवि हैं। इन्होंने व्रजभाषा में ही

कविता की है और इनका प्रधान विषय भक्तिकालीन अथवा रीतिकालीन कवियों का सा ही रहा है। इनके छंद भी अधिकतर कवित्त, सवैया आदि ही रहे, यद्यपि कुछ कवियों ने दो एक अन्य छंद भी अपनाए।

दूसरी धारा के कवियों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, पं० श्रीधर पाठक, पं० नाथूरामशंकर शर्मा, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय, लाला भगवानदीन, बाबू जयशंकर 'प्रसाद', पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', पं० सुमित्रानंदन पंत, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, ठा० गोपालशरण सिंह, बा० सियारामशरण गुप्त, श्री अनूप शर्मा, श्री वियोगी हरि, पं० उदयशंकर भट्ट, पं० गयाप्रसाद पांडेय, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान आदि तथा अन्य बहुत से प्रसिद्ध कवि हैं। इनमें से कुछ केवल व्रजभाषा में, कुछ केवल खड़ी बोली में और कुछ दोनों भाषाओं में रचना करते हैं। छंद इन्होंने पूर्व-प्रचलित अपनाए तो अवश्य हैं परंतु इनकी रुचि नए छंदों की ओर अधिक है। इनके विषय पर सामयिक स्थिति का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। देश, समाज और धर्म की दीन दशा से विचलित और द्रवित होकर इन कवियों ने सम्मिलित रूप से राष्ट्रीयता-भावना-युक्त बहुत सुंदर कविता की है।

खड़ी बोली के आधुनिक कवियों में एक दल रहस्यवादी कवियों का भी है। देशी-विदेशी बहुत से कवियों का अध्ययन करके कुछ ने तो बँगला के कवींद्र रवींद्र और कुछ ने अँगरेजी के वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शैली, बायरन आदि की भावुकता, अनुभूति और कोमलता-प्रधान कविता से प्रभावित होकर उन्हीं के ढंग की कविता करना आरंभ किया। बाबू जयशंकर प्रसाद को हम हिंदी में इस प्रवृत्ति का प्रवर्तक कह सकते हैं। आरंभ में इतिवृत्ति-प्रधान कविता के प्रेमियों ने इस धारा के कवियों का विरोध किया; परंतु अब लोग इनका यथार्थ सम्मान करने लगे हैं। इस दल के कवियों की संख्या दिन-दिन बढ़ रही है। इस धारा के कुछ कवि कल्पना-प्रधान कविता करते हैं और कुछ भाव-प्रधान। सर्व श्री जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत, मोहनलाल महतो, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा आदि कल्पना-प्रधान और सर्व श्री माखनलाल चतुर्वेदी, रायकृष्णदास, बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन' आदि भाव-प्रधान कविता करते हैं। छायावादी स्कूल के नवीन कवियों में सर्वश्री भगवती चरण वर्मा, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद', जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', हरिकृष्ण प्रेमी, हरवंशराय 'बच्चन', गुरुभक्तसिंह, रामधारीसिंह 'दिनकर', रामेश्वर शुक्ल

'अंचल', बालकृष्णराव, आरसीप्रसाद सिंह आदि प्रसिद्ध हैं। इन कवियों की भाषा साहित्यिक खड़ी बोली है। छंद प्रायः सभी कवियों ने नए-नए ही अधिक रुचि से अपनाए हैं। असफल प्रेम, वेदना, आंतरिक अनुभूति, हीन वर्ग के प्रति सहानुभूति, प्रकृति का नवीन दृष्टि से चित्रण, ये ही इनकी कविता के प्रधान विषय हैं।

सारांश यह कि वर्तमान समय में हिंदी कविता बड़ी द्रुत गति से उन्नति कर रही है। कवियों ने कई सुंदर-सुंदर महाकाव्य और खंडकाव्य लिखे हैं इनके मुक्तकाव्य में भी तत्संबंधी सभी विशेषताएँ वर्तमान हैं। सम्मिलित रूप से इन सब बातों को देख कर कहना पड़ता है कि हिंदी कविता का भविष्य बहुत उज्ज्वल है और वह दिन दूर नहीं है जब हमारा वर्तमान काव्य-साहित्य किसी भी देशी-विदेशी साहित्य के समान ही उन्नत हो जायगा।

तुलसी का बाल-राम-रूप वर्णन

सुंदर रूप का प्रभाव मानव मात्र पर ही नहीं, पशु-पक्षियों तक पर बहुत अधिक पड़ता है। किसी के शील, स्वभाव और चरित्र के प्रति श्रद्धा का भाव हमारे मन में तभी उत्पन्न हो सकता है जब हम अथवा अन्य व्यक्ति उसके संपर्क में आएँ, परंतु सौंदर्य में इतना आकर्षण है कि केवल नेत्रों से एक बार सुंदर छबि देखते ही हमारे मन में उसके प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि सभी कवि अपने-अपने आदर्श और रुचि के अनुसार अपने नायक-नायिकाओं को सुंदरतम रूप वान बनाते हैं। तुलसी के राम तो परब्रह्म का अवतार थे और परम ऐश्वर्यवान महाराज के यहाँ उत्पन्न हुए थे। उनके सौंदर्य का क्या कहना! दूसरे अपने नायक के प्रति तुलसी के हृदय में बड़े सम्मान का भाव था। वे उन्हें सर्वोपरि देव मानते थे और अवतार में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य। इसलिए उन्होंने राम के सौंदर्य का बड़ी लगन से चित्रण किया है। सीता के अनुपम सौंदर्य का वर्णन करते समय तो वे कहीं-कहीं हिचके भी हैं; क्योंकि उन्हें जगज्जननी, माता के रूप में देखते थे और उनके अपार रूप के विषय

में निःसंकोच कुछ कहना अनुचित समझते थे; पर राम के सौंदर्य का उन्होंने पूर्ण वर्णन किया है। कैसा ही अवसर हो, यदि उन्हें राम के रूप का स्मरण हो आया तो दो-चार उज्वल-पंक्तियाँ तो अवश्य कह दी हैं और जहाँ काव्य की दृष्टि से उनके रूप-वर्णन की आवश्यकता थी वहाँ तो उन्होंने बड़े विस्तार से बहुत आकर्षक और प्रभावशाली वर्णन किया है।

तुलसी-द्वारा चित्रित राम के इस असीम सौंदर्य-शाली चित्र पर शत्रु-मित्र सभी मुग्ध हैं। सौंदर्य में जो आकर्षण है, राम के संबंध में वह बहुत बढ़ गया है। माता-पिता, गुरुजन, परिजन आदि तो राम पर मुग्ध हैं ही, संसार से उदासीन, ऋषि-मुनि, साधु-संन्यासी ही नहीं, शत्रु तक राम के दिव्य सौंदर्य को देखकर वशीभूत हो जाते हैं। दिन हो या रात, नगर में हों या वन में, वस्त्राभूषणों से सज्जित हों अथवा जटा-जूट बाँधे, राम का सौंदर्य सर्वत्र समान है और जो कोई भी उनके सामने आता है उनके रूप पर लट्टू हो जाता है। तुलसी यही चाहते भी थे। यों तो हमें उनके इस आदर्श के संबंध में कुछ कहना नहीं है, क्योंकि यह अपनी-अपनी रुचि और आदर्श का सवाल है; परंतु एक-आध स्थल पर राम के प्रति उनके शत्रुओं का

आकर्षण कुछ आलोचकों को खटक जाता है। उदाहरण के लिए खर-दूषण का यह कथन दिया गया है—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते।
देखे जिते हते हम तेते॥
हम भरि जनम सुनहु सब भाई।
देखी नहिं अस सुंदरताई॥
यद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा।
बध लायक नहि सुंदर रूपा॥

—मानस (अरण्य कांड पृ० १६५–६)

आलोचकों का कहना है कि बहन के अपमान का बदला लेने के लिए बड़े क्रोध में आने वाले खर-दूषण के मुख से उक्त बात कहलाना अनुचित ही है। हमारी सम्मति में, शत्रु का शत्रु के रूप-गुण पर मुग्ध हो जाना अस्वाभाविक नहीं है, जैसा कुछ आलोचकों का अनुमान है। इसलिए उक्त कथन भी उचित ही है। इससे बड़ी कुशलता से कवि ने अपने राम के उस सौंदर्य की ओर संकेत किया है जो नाग, असुर, सुर, नर, मुनि सबके सौंदर्य से बढ़कर—एक शब्द में, अनुपम है। मनुष्य का मन तो साधारण सौंदर्य पर भी मुग्ध हो सकता है; अतः जिस सौंदर्य पर राक्षस भी मुग्ध हो जायँ, यहाँ तक कि अपना क्रोध, अपमान, आवेश भी भूल जायँ,

वह अवश्य ही अनुपमेय होगा। क्रोधावेश में लाल खर-दूषण के मुँह से उक्त पंक्तियाँ कहला कर कवि ने यही बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

किसी भी विषय का वर्णन करते समय कवि अपने सामने एक-न-एक आदर्श अवश्य रखता है। आदर्श जितना महान् होगा, चीज भी उतनी ही उत्तम बनेगी। राम के सौंदर्य का वर्णन करते समय तुलसी परब्रह्म परमात्मा के दिव्य और अलौकिक रूप का दर्शन कर रहे थे। उसकी एक झाँकी आप भी देख कर अपने नेत्र सफल कर लीजिए—

नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि कोटि-कोटि सत काम॥

सरद मयंक बदन छबि सींवाँ।
चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवाँ॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा।
बिधुकर निकर बिनिंदक हासा॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी।
चितवन ललित भावती जीकी॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी।
तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥
कुंडल मकर मुकुर सिर भ्राजा।
कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥

उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला।
पदिक हार भूषण मनि जाला॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ।
बाहु बिभूषण सुंदर तेऊ॥
करिकर सरिस सुभग भुज-दंडा।
कटि निषंग कर सर कोदंडा॥

तड़ित-बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छबि छीनि॥

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं।
मुनि-मन मधुप बसहि जिन्ह माहीं॥

—मानस (बालकांड पृ० ११२)

परम-पिता परमात्मा ने इस रूप के दर्शन स्वायंभुव राजा मनु और उनकी रानी शतरूपा को कराए थे; क्योंकि इन्होंने अपने घोर तप से उन्हें प्रसन्न कर लिया था। राजा-रानी ने भगवान को प्रसन्न जान उनसे वर माँगा कि हमारे तुम्हारे समान ही पुत्र हो। भगवान उनका आशय समझ गए; मुसकराए और बोले—अपने समान दूसरा मैं कहाँ ढूँढ़ता फिरूँगा; चलो, मैं ही तुम्हारे पुत्र-रूप में उत्पन्न हूँगा। यों राम का अवतार हुआ। उनके माता-पिता उनका वही रूप देखना चाहते थे जिसका स्मरण शिवजी किया करते हैं। राम के सौंदर्य का वर्णन करते

समय तुलसी ने यह बात सर्वदा अपने ध्यान में रखी है और उनके (१) श्याम वर्ण (२) मुख (३) कपोल (४) ठुड्डी (५) गरदन (६) ओंठ (७) दाँत (८) नाक (९) हास्य (१०) आँख (११) चितवन (१२) भौंहें (१३) माथा (१४) तिलक (१५) कुंडल (१६) मुकुट (१७) केश (१८) स्कंध (१९) भुज दंड (२०) पीतांबर (२१) त्रि-रेखाएँ (२२) नाभी (२३) चरण आदि की दिव्य और अनुपम शोभा का वर्णन करते समय तुलसी बराबर उनके उक्त चित्रित सुंदर स्वरूप का दर्शन करते हैं। राम का बालक रूप देखिए—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा।
नील कंज बारिद गंभीरा॥
अरुन चरन पंकज नख जोती।
कमल दलन्हि बैठे जनु मोती।
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहै।
'नूपुर धुनि' सुनि मुनि मन मोहै॥

'कटि किंकिनी' उदर त्रय रेखा।
नाभि गँभीर जानि जिन्हँ देखा॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी।
'हिय हरि नख' अति सोभा रुरी॥
उर मनि हार पदिक की सोभा।
बिप्र चरन देखत मन लोभा॥

कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई।
आनन अमित मदन छबि छाई॥
'दुइ दुइ दसन' अधर अरुनारे।
नासा तिलक को बरनै पारे॥
सुंदर सुवन सुचारु कपोला।
'अति प्रिय मधुर तोतरे बोला'॥
चिक्कन 'कच कुंचित गभुआरे'।
'बहु प्रकार रचि मातु सवाँरे'॥
'पीत झगुलिया' तनु पहिराई।
जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥

मानस (बालकांड पृ० २२५)

परमात्मा के जिस रूप का दर्शन तुलसी ने मनु और शतरूपा को कराया है, यह वर्णन भी उसी का है, यह बात दोनों को मिलाने से स्पष्ट हो जाती है। यहाँ कवि ने (१) नख-ज्योति, (२) पैर के तलवे में वज्र, ध्वजा और अंकुश की रेखाएँ (३) मृदु-चरण-चिह्न (४) कान आदि का वर्णन और बढ़ा दिया है, जैसे पूर्व-वर्णन करते समय वह इन बातों को भूल गया था। 'कामा' के भीतर अंश पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि कवि ने राम के बालरूप की मोटी-मोटी बातों, (१) कटि किंकिनि (२) दुइ दुइ दसन (३) मधुर तोतरे बोल (४) कच गभुआरे (५) झगु-

या (६) जानु - पानि बिचरनि, का ही वर्णन किया और सो भी संकेत रूप में ही। कारण स्पष्ट है। वि की दृष्टि इस समय परमात्मा के पूर्व - वर्णित य पर है और वह राम के बाल - रूप का वर्णन रने के बहाने अपने प्रिय पाठकों कों उसी का पुनीत र्णन कराना चाहता है। परंतु यह बात केवल 'मानस' ही देखने को मिलती है। 'गीतावली' अथवा कवितावली' में कवि ने जब - जब राम के बाल--रूप ा वर्णन किया है तब तब उन्हें एक बहुत सुंदर जकुमार ही बताया है। स्वायंभुव मनु और शतरूपा ा उनका यही रूप प्रिय था। अतः 'गीतावली' ोर 'कवितावली' का रूप - वर्णन अधिक हृदयहारी ोर स्वाभाविक हुआ है। नीचे इस रूप की दो एक ाँकियाँ देख लीजिए—

बालक राम पालने में झूल रहा है। चक्रवर्ती राजा ा वह पुत्र है। सोने का उसका पालना है, मणियाँ ोर रत्न जिसमें जड़े हैं। देखिए—

कनक - रतन मय पालनो रच्यो मनहुँ मार सुतहार।
बेबिध खिलौना किंकिनी लागे मंजुल मुकुता हार॥
(गीतावली बाल० १६)

माता कौशल्या ने 'दशरथनंदन' को नहला - धुला र, तरह - तरह के सुंदर वस्त्राभूषणों से सजा कर

पालने में पौढ़ा दिया है। इस समय की उनकी शोभा का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

मदन मोर कै चंद की झलकनि निदरति तनु-जोति।
नील कमल, मनि, जलदकी उपमा कहे लघु मति होति।
मातु - सुकृत - फल राम लला॥
लघु-लघु 'लोहित - ललित' हैं पद, पानि अधर एक रंग।
को कवि जो छबि कहि सकै नख - सिख सुंदर सब अंग।
परिजन - रंजन राम लला॥
पग नूपुर, कटि किंकिन, कर - कंजनि पहुँची मंजु।
हिय हरिनख अद्भुत बन्यो मानो मनसिज मनि - गन - गंजु।
पुरजन सिरमनि राम लला॥
लोचन नील सरोज से, भ्रू पर 'मसि बिंद' विराज।
जनु विधु - मुख - छबि अमिय को रच्छक रखे रसराज।
सोभासागर राम लला॥

(गीतावली बाल० १६)

बालक राम के आभूषणों की गिनती हमें नहीं करनी है। हम तो केवल यह दिखाना चाहते हैं कि तुलसी ने 'गीतावली' के इस पद में राम को शिशु रूप में ही देखा है। पद, पानि, अधर कवि को समान रूप से लाल - लाल लगते हैं। उसका सारा नख - सिख बहुत सुंदर है। बालक राम इसी कारण 'परिजन - रंजन' और 'पुरजन - सिरमनि' है॥

जो सुनता है, दर्शन करने दौड़ता चला आता है। इसलिए कवि 'उनको नजर न लग जाय' के विचार से 'मसि-बिंदु' भी नहीं भूला है। 'गीतावली' का एक पद और देखिए—

भूलत राम पालने सोहैं, भूरि भाग जननी मन मोहैं
'तनु मृदु मंजुल मेचकताई', झलकत बाल-विभूषण झाईं
अधर पानि पर लोहित लोने,
सर-सिंगार-भव सारस सोने।

* * *

रंजित अंजन कंज-विलोचन,
भाजत भाल तिलक गोरचन।
लस मसि बिंदु बदन-बिधु नीको,
चितवत चित चकोर तुलसी को।
(गीतावली बाल० २१)

इस पद में कुछ बातें तो कवि ने पूर्व वर्णन की ही दोहरा दी हैं। नवीनता दूसरी और चौथी पंक्ति में है। बालकों के नेत्रों में काजल लगाना आज भी आवश्यक समझा जाता है। उनका विश्वास है कि ऐसा करने से बालक को एक तो नेत्र-रोग नहीं होते और दूसरे उसकी आँखें बड़ी-बड़ी हो जाती हैं—बड़ी आँखों का सुंदर लगना तो कहने की जरूरत है ही नहीं। कवि ने यहाँ बालक राम के

नेत्रों में काजल लगवा दिया है। दूसरी पंक्ति में बालकों के शरीर की कोमलता की ओर संकेत है। बालक राम के कोमल शरीर की स्वच्छता इतनी बढ़ी हुई है कि उस पर उनके छोटे-छोटे आभूषणों की छाया पड़ रही है। निसंदेह यह कवि की बड़ी सुंदर और सत्य कल्पना है जो उसके सूक्ष्म निरीक्षण की परिचायक है।

अब बालक राम को गोद में देखिए। माता की गोद में तो बालक चौबीस घंटे रहता है। काम-काजी पिता को ही उसके खिलाने का अवसर कम मिलता है। इसलिए शृंगार किए बालक को पिता की गोद में ही देखिए—

पग नूपर औ पहुँची कर-कंजनि,
मंजु बनी मनिमाल हिए।
'नवनीत कलेवर' पीत झगा झलकैं,
पुलके नृप गोद लिए।
अरबिंद सों आनन रूप मरंद,
अनंदित लोलन-भृंग पिए।
मन मों न बस्यो अस बालक जो,
तुलसी जग में फल कौन जिए।
तन की दुति स्याम सरोरुह,
लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।

अति सुंदर सोहत धूरि भरे,
छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं।
'दमकैं दँतियाँ' दुनि दामिनि ज्यों
किलकैं कल बाल बिनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा,
तुलसी मन-मंदिर में बिहरैं।
'बर दंत की पंगति' कुंदकली,
अधराधर-पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जमै,
छबि मोतिन माल अमोलन की।
घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर,
कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी,
बलि जाऊँ लला इन बोलन की।

—कवितावली (बाल० २, ३, ५)

'नवनीत कलेवर' वाली बात ऊपर आ चुकी है। 'दमकैं दतियाँ' और 'बर दंत की पंगति' की बात नई है, यद्यपि बालक राम के छोटे-छोटे दो दाँत हम पहले निकलते देख चुके हैं। 'धूरि भरे' की शोभा भी यहाँ तुलसी की सुंदरतम रही है। इससे कवि का संकेत है कि अब बालक राम घर के बाहर भी खेलने लायक हो गया है, क्य कि

महाराज दशरथ के मणियाँ जड़े और बहुमूल्य संग-मरमर के आँगन में घुटनों के बल चलने से, जिसका ज़िक्र ऊपर आ चुका है, शरीर में धूल लग नहीं सकती थी—धूल का वहाँ नाम ही नहीं था, लगती क्या! दशरथ की गोद में एक बार इन्हें और देखिए—

सोहत सहज सुहाए नैन।
खंजन मीन कमल सकुचत तब
जब उपमा चाहत कवि दैन।
सुंदर सब अंगनि सिसु-भूषन
राजत जनु सोभा आए लैन।
बड़ो लाभ, लालची लोभ-बहु सरहि
गए लखि सुखमा बहु मैन।
भोर भूप लिए गोद मोद भरे,
निरखत बदन, सुनत कल बैन।
बालक-रूप 'अनूप राम-छबि'
निवसति तुलसीदास-उर ऐन।

—गीतावली (बाल० ३२)

तुलसी ने इस पद के प्रथम तीन चरणों में कविजनोचित ढंग से 'नैन' और 'शिशु भूषण' का वर्णन किया है और अंतिम पंक्ति में उनकी बाल छबि को 'अनूप' कह कर संतोष कर लिया है।

घुटने चलते-चलते बालक राम आँगन में खेलने भी लगा। अब तक तो वह अपने सौंदर्य के कारण ही माता-पिता, पुरजन और हरिजन को प्रिय था, अब बाललीला के कारण और भी आकर्षक हो गया। साधारणतः इस स्थिति में कवि का ध्यान बाल-लीलाओं की ओर अधिक रहता है, सौंदर्य-वर्णन की ओर कम; परंतु तुलसी ने ऐसा नहीं किया है। उन्होंने बाललीला से अधिक उनके बाल-सौंदर्य का वर्णन किया है। नीचे हम इसके कुछ उदाहरण दे रहे हैं—

बाल विनोद करत रघुराई।
'विचरत अजिर', जननि सुखदाई।
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा।
अंग अंग 'प्रति छबि बहु कामा'॥
नव राजीव, 'असन मृदु चरना'।
'पदज रुचिर' नख ससि दुति हरना।
ललित अंक 'कुलिसादिक चारी'।
नूपुर चारु मधुर रवकारी।
चारु पुरट मनि रचित बनाई।
कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई।

'रेखा त्रय', सुंदर उदर 'नाभि रुचिर' गंभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिध, बाल-बिभूषन बीर॥

'असन पानि नख करज मनोहर'।
'बाहु बिसाल', बिभूषन सुंदर॥
कंध बाल केहरी दर ग्रीवाँ।
चारु चिबुक आनन छबि सींवाँ।
कल बल बचन अधर अरुनारे।
'दुई दुई दसन बिसद' बर बारे॥
'ललित कपोल मनोहर नासा'।
सकल सुखद 'ससिकर सम हाँसा।
नील 'कंज लोचन' भव मोचन।
भ्राजत भाल तिलक गोरोचन॥
'बिकट भृकुटि' 'सम सबल' सुहाए।
'कुंचितकच' मेचक छबि छाए।
पीत झीनि झिगुली तन सोही।
किलकनि चितवनि भावत मोही॥

—मानस (उत्तर कांड पृ० ११६१-२)

ऊपर के अवतरण का 'कामा' के भीतर का भाग कवि पहले ही वर्णन कर चुका है; कहीं-कहीं तो उसमें पूर्व प्रयुक्त शब्द तक ज्यों के त्यों उठा कर रख दिए हैं। केवल दो बातों का वर्णन नवीन है। एक तो हाथ की उँगलियों और नखूनों का जिनके लिए कवि ने लिखा है—'अरुन पानि नख करज मनोहर।' और दूसरे कंधों का। तुलसी को बालक राम के कंधे

सिंह के बच्चे के समान ऊँचे और बलशाली मालूम होते हैं। इस समय राम की अवस्था एक वर्ष के लगभग की है, क्योंकि उनके 'दुइ-दुइ दसन' ही कवि ने देखे हैं। अतः कंधों को पुष्ट और छाती को विशाल बता कर कवि बालक के स्वास्थ्य और भावी शक्ति की ओर सुंदर संकेत कर रहा है।

'गीतावली' में आँगन में खेलते राम के रूप का वर्णन प्रायः ऐसा ही है—

आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए।
नील-जलद-तनु-स्याम राम-सिसु जननि निरखि
मुख निकट बोलाए।
बंधक-सुमन-अरुन पद-पंकज अंकुस प्रमुख
चिन्ह बनि आए।
नूपुर जनु मुनिबर-कलहंसनि रचे नीड़
पै बाँह बसाए।
कटि मेखल, बर हार, ग्रीव पर, रुचिर बाँह
भूषण पहिराए।
उर श्रीवत्स मनोहर हरिनख हेम मध्य
मनिमन बहु लाए।
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका स्रवन
कपोल मोहिं अति भाए।
भ्रू सुंदर करुनारस-पूरन, लोचन मनहु
जुगल जल जाए।

भाल - बिसाल ललित लटकन बर, बालदसा
के चिकुर सोहाए।
मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि
मिलन तम के गन आए।
उपमा एक अभूत भई तब जब जननी
पट पीत ओढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव
मनो तड़ित छपाए।
अंग - अंग पर मार निकर मिलि छबि समूह
लै लै जनु छाए।
तुलसिदास रघुनाथ - रूप - गुन तो कहौं जो
बिधि होंहि बनाए।

(गीतावली बाल० २३)

यह पद 'गीतावली' के सुंदर चुने हुए पदों में से है। कवि का ध्येय इस में रूप - वर्णन की ओर उतना नहीं है जितना क्लिष्ट कल्पनाओं के एकत्र करने की ओर है। उसने यहाँ राम - रूप - संबंधी किसी नई बात का वर्णन नहीं किया है। जो नवीनता वह पद में ला सका है, अथवा लाने का उसने प्रयत्न किया है वह उसकी कल्पना - चयन प्रतिभा का परिणाम है।

वस्तुतः वर्णन की दृष्टि से वे ही पद सुंदर बन पड़े हैं जहाँ कवि ने संक्षेप में—

रघुबर बाल - छबि कहों बरनि।
सकल सुख की नींव, कोटि - मनोज - सोभाहरनि।

—गीतावली (बाल० २४)

कह कर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अथवा अन्यान्य अलंकारों की सहायता से विषय को हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया है। वस्त्राभूषणों की नामावली गिना देने से सौंदर्य का अनुभव कोई नहीं करा सकता। हर्ष की बात है कि तुलसी ने ऐसा किया भी नहीं है। वे राम - रूप का स्मरण करते ही पुलकित हो जाते थे और तभी रूप - वर्णन के पद बनाने लगते थे—

सुमिरत सुखमा हिय हुलसी है।
गावत प्रम पुलकि तुलसी है।

—गीतावली (बाल० २८)

कभी - कभी तो राम का सुंदर रूप देखकर वे अपने आपको ही भूल जाते थे—

तुलसिदास प्रभु देखि मगन भईं
प्रम बिवश कछु सुधि न अपनियाँ।

—गीतावली (बाल० २१)

कुछ बड़ा होकर बालक राम अपने छोटे भाइयों और साथियों के साथ अयोध्या की गलियों में खेलने

लगा। नगरवासियों को इस समय उसका सौंदर्य देखने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। तुलसी ने भी उसके इस रूप का वर्णन कई बार किया है; परंतु वह चलताऊ ही है। 'मानस' में वे कहते हैं।

कर तलवार धनुष अति सोहा।
देखत रूप चराचर मोहा।
जिन्ह बीथिन बिचरहिं सब भाई।
थकित होंहिं सब लोग लुगाई।
कोसलपुर-बासी नर नारि वृद्ध अरु बाल।
प्राणहु ते प्रिय लागत सब कहँ राम कृपाल॥

—मानस (बाल कांड पृ० २३०)

'बरवै रामायण' में भी कवि ने इसी प्रकार धनुषबाण हाथ में लिए खेलते राम के रूप का वर्णन किया है—

'कुंकुम-तिलक भाल' स्रुति कुंडल लोल।
'काक पच्छ मिलि', सखि! कस लसत कपोल॥
'भाल तिलक सी सोंहत भौंह कमान'।
मुख अनुहरिया केवल चंद समान॥
तुलसी 'बंक बिलोकनि', मृदु मुसकानि।
कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि॥
काम रूप सम तुलसी राम सरुप।

—बरवै रामायण (बाल० ८, ९, १०, ११)

तुलसी के सौंदर्य-वर्णन की एक बात खटकने वाली यह है कि उन्होंने क्रमानुसार वर्णन न कर के आरंभ में ही एक राम को 'करोड़ों कामदेव' से सुंदर कह दिया है। 'बरवै रामायण' की उक्त पंक्तियों में यह बात नहीं है। यहाँ वर्णन में ही नवीनता नहीं है—पूर्व वर्णित बातें प्रायः उन्हीं शब्दों में दोहरा दी गई हैं—परंतु क्रम ठीक है। 'कवितावली' में भी खेलते हुए राम का सुंदर चित्र है—

'पदकंजनि मंजुबनी पनही'
धनुही सर पंकजपानि लिए।
लरिका संग खेलत डोलत हैं
सरजू तट चौहट हाट हिए॥

* * * *

सरजू बर तोरहिं तीर फिरैं
रघुबीर सखा असबार सबै।
'धनुहीं कर तीर, निषंग कसे कटि,
पटि दूकूल नवीन फबै'॥

—कवितावली (बाल० ६-७)

राजकुमार राम का यह चित्र अपेक्षाकृत पूर्ण है। पैरों में जूते की बात कहनी भी आवश्यक थी। कहीं राजकुमार गलियों में या सरजू के किनारे नंगे पैर घूम सकता है? दो बातें अभी और रह गई हैं।

एक 'रामाज्ञा प्रश्न' के इस दोहे में देख लीजिए—

'बाल बिभूषन' बसन वर, 'धूरि-धूसरित अंग'।
बाल केलि रघुवर करत, बाल बंधु सब संग॥

—रामाज्ञा प्रश्न (बाल० ४-३-१)

खेलते समय छोटे-छोटे बालकों के शरीर में धूल लग जाना स्वाभाविक है। यहाँ तुलसी ने यही बात लिखी है। दूसरी बात है उनके गहनों के प्रकार। इसके लिए 'गीतावली' का यह पद पढ़िए—

ललित ललित लघु लघु धनु सर कर।
तैसी तरकसी, कटि कसे पट पियरे।
ललित पनही 'पाँव पैंजनी-किंकिनि धुनि।
सुनि सुख लहै रहै नित नियरे।
'पहुँची अंगद चारु', हृदय 'पदिक हारु'
'कुंडल'-तिलक-छबि गड़ो कवि जियरे।
'सिरसी टिपारो लाल' नीरज-नैन बिसाल,
सुंदर वदन ठाढ़े सुरतरु सियरे॥
सुभग सकल अंग अनुज बालक संग,
देखि नर-नारी रहैं ज्यों कुरंग दियरे।
खेलत अवध खोरि, गोली भौंरा चक डोरी,
मूरति मधुर बसै तुलसी के हियरे।

—गीतावली (बाल० ४१)

इस पद में तुलसी ने गहनों की लंबी सूची दे दी है। हमारा अनुमान है कि यह अधूरी और अपूर्ण है। भला, चक्रवर्ती राजाओं के राजकुमारों के आभूषणों की कहीं गिनती हो सकती है? जो हो ऊपर जितने अवतरणों में हमने नगर में खेलते राम का दर्शन किया है, हमें उन सब में सुंदर यह पद लगता है—

बिहरत अवध बीथिन राम।
संग अनुज अनेक सिसु नव-नील-नीरद-स्याम।
तरुन-अरुन-सरोज-पद बनी कनकमय पदत्रान।
पीत पट कटि तून बर, करललित लघु धनु बान।
लोचननि को लहत फल छबि निरखि पुर-नर-नारि।
बसत तुलसीदास उर अवधेस के सुत चारि।

यहाँ 'चारि सुत' की बात तुलसी ने मन रखने को कह दी है। वस्तुतः उन्हें राम ही प्यारे थे। ऊपर के अवतरणों से हमारे कथन की पुष्टि होती है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि उन्होंने राम के अतिरिक्त उनके किसी भी भाई के रूप-सौंदर्य का इतना विशद और पूर्ण वर्णन नहीं किया है।

आलोचना का जन्म और विकास

देश-काल की परिस्थिति के प्रभाव से भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के व्यक्तियों के आचार-विचार, उद्देश्य और आदर्श में भले ही अंतर रहे, परंतु कुछ बातें ऐसी हैं जो मनुष्यमात्र में समान रूप से पाई जाती हैं। पहली बात सौंदर्य-प्रियता है। संभव है और स्वाभाविक भी, कि सौंदर्य-संबंधी आदर्श सभी देश वालों का एक न हो; पर यह नितांत सत्य है कि सभी मनुष्य अपने सामने की वस्तुओं में से अपनी रुचि के अनुसार सुंदर वस्तुओं को ही पसंद करेंगे। यह हो सकता है कि चुनी हुई वस्तुओं में से कुछ एक व्यक्ति को सुंदर लगें और कुछ दूसरों को। पर इस भिन्नता का कारण सौंदर्य-संबंधी आदर्श और रुचि की भिन्नता ही होगी, वह वस्तु नहीं।

दूसरी बात जो समान रूप से सभी मनुष्यों में पाई जाती है, वह है दूसरों के विचार जानने और दूसरों पर अपने विचार प्रकट करने की बलवती इच्छा। संसार में प्रतिक्षण प्रकृति के कार्य-कलाप शांतिपूर्वक चला करते हैं। हमारा ध्यान उनकी ओर है या नहीं, हम उनकी प्रशंसा कर रहे हैं

अथवा निंदा, ऐसी बातों की चिंता न करके प्रकृति अपने कर्त्तव्य का पालन किया करती है। इस कर्त्तव्य-पालन तथा कार्य-कलाप के सौंदर्य का अनुभव करने की क्षमता सभी मनुष्यों में नहीं होती। फिर जिस कार्य और व्यापार को एक व्यक्ति सम्मान और आश्चर्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझ कर देखता है उसी की ओर दूसरा या तो ध्यान ही नहीं देता अथवा उपेक्षा से एक बार देखकर मुँह फेर लेता है। प्रायः ऐसा होना है कि प्रकृति के जिन कार्यों और व्यापारों का हमसे अथवा हमारे निकट-संबंधी से संबंध होता है, उनकी ओर हम सबसे अधिक और सबसे पहले आकृष्ट होते हैं। यों हमारा अनुभव जन्य ज्ञान क्रमशः बढ़ता रहता है। अपने इन अनुभवों से मनुष्य दूसरों को परिचित करना चाहता है। दूसरों की जिज्ञासा वृत्ति उनका स्वागत करती है। फलतः आत्माभिव्यंजन का कार्य आरंभ होता है।

उक्त विवेचन से दो बातों स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह है कि बाह्य जगत के सुंदरतम पदार्थों की ओर मनुष्य बहुत शीघ्रता से आकृष्ट होते हैं तथा प्रकृति के जिन कार्यों से उनका निजी संबंध होता है—इस शब्द का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में किया गया है—उनसे वे बहुत शीघ्र और बहुत अधिक प्रभावित

होते हैं। दूसरे, अपने अनुभवों को—बाह्य रूप तथा प्रकृति के कार्यकलाप के विषय में अपने विचार—प्रकट करने की लालसा भी मनुष्य मात्र में स्वाभाविक होती है। प्रकट किए हुए ये विचार प्रायः दो प्रकार के हुआ करते हैं—

(१) निजी अनुभव - जन्य

(२) सम्मतिसूचक

दोनों में अंतर यह है कि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु अथवा कार्य के संबंध में, उसके किसी रूप से प्रभावित होकर, अपने विचार व्यक्त करना है, तब हम कहेंगे, अमुक कथन का आधार अमुक व्यक्ति के निजी अनुभव हैं। इस दशा में कथन का विषय वस्तु अथवा कार्य रहता है। पर जब किसी वस्तु या कार्य के विषय में प्रकट किए हुए किसी एक व्यक्ति के विचारों के संबंध में दूसरा अपने विचार व्यक्त करता है तब वे सम्मतिसूचक होते हैं। समर्थन में हों, चाहे विरोध में, इनका विषय वस्तु या कार्य न होकर उसके संबंध में प्रकट किए हुए पहले मनुष्य के विचार होते हैं। दूसरे शब्दों में, इस दृश्य - जगत के बाह्य रूप को, कभी - कभी अंतर्जगत के सौंदर्य को भी, देखकर जो विचार मनुष्य के मन में पैदा होते हैं, वे यदि अपने स्वाभाविक रूप में,

अपने अनुभव अपने ही शब्दों में, ज्यों के त्यों, प्रकट कर दिए जाते हैं, तब वे साहित्य की चीज कहलाते हैं; परंतु उसी के संबंध में, एक व्यक्ति के प्रकट किए हुए पूर्व उद्गारों के विषय में, चाहे वे लेख या कविता के रूप में हों अथवा आलेख्य वस्तु या मूर्ति-रूप में, जो विचार प्रकट किए जायँगे, स्थूल रूप से उन्हें हम आलोचना अथवा सम्मतिसूचक विचार के नाम से पुकारेंगे। इस दृष्टि से आलोचना का अर्थ अध्ययन और अपनी सम्मति देना होता है।

सुंदर-असुंदर का निर्णयात्मक निर्वाचन रुचि के आधार पर होता है। परिस्थिति और संस्कारों का उस पर प्रभाव पड़ता है। परिस्थिति का प्रभाव पशु-पक्षियों की रुचि पर भी पड़ता है जिसे वे अपने कार्यों द्वारा स्पष्ट कर देते हैं; पर संस्कारों का प्रभाव मनुष्य की रुचि पर ही पड़ता है जिसे वह अपनी वाणी द्वारा व्यक्त करता है। जब रुचि और संस्कारों में भिन्नता होती है तब मनुष्य के विचारों में अंतर होना भी स्वाभाविक है। पशु-पक्षियों को इस अंतर के प्रश्न को लेकर आपस में झगड़ने की आवश्यकता नहीं होती; पर मनुष्य अपनी वाणी की सहायता से इस प्रश्न को सुलझाना चाहता है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण वह अपनी रुचि—अपने व्यक्त किए हुए विचारों—का समर्थन और दूसरों

के उद्गारों का विरोध करता है। सारांश यह कि जो व्यक्ति उसके विचारों से सहमत नहीं होता उसे अपने उद्गारों की सत्यता, प्रामाणिकता और औचित्य समझाने के लिए यह तर्क से काम लेता है। साथ-साथ इसके लिए उसे गुण-दोष की विवेचना करनी पड़ती है; कभी-कभी दूसरी सुंदर अथवा असुंदर वस्तुओं के उदाहरण भी देने होते हैं। यों सम्मति-सूचक आलोचना का क्रमशः विकास होता है।

आलोचना का उक्त अर्थ और उसके विकास का क्रम देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य आलोचना-प्रिय प्राणी है और सभी सवाक् व्यक्ति—चाहे निरक्षर हों अथवा साक्षर—किसी न किसी रूप में आलोचना करते ही हैं। हाँ, इसके लिए उनके सामने आलोच्य वस्तु होनी चाहिए। साहित्य की आलोचना के लिए भी यह बात सत्य है कि पहले साहित्य की रचना होनी चाहिए, फिर आलोचना का विकास। प्रायः सभी देशों के आलोचना-साहित्य के लिए यह बात सत्य है।

भ्रमरगीत - प्रसंग

अपनी बाल्य और शैशवावस्था के दिन कृष्ण ने जिनके साथ बिताए थे, जिनके साथ वे खेला करते थे, नाचते - गाते थे, एक दिन कंस के बुलाने पर उन्हीं प्यारी गोपियों को छोड़ कर वे मथुरा जाने पर विवश होते हैं। उनके जाते ही सरलहृदया गोपियों की दशा बड़ी दयनीय हो जाती है। कृष्ण ने उनको प्रेम करना सिखलाया था, उन्हें प्रेम करने का अवसर दिया था, प्रेम करने को उन्हें उत्साहित किया था। गोपियों ने प्रिय कृष्ण के साथ रास - लीला अवश्य की, परंतु इतने से ही उनकी प्रेम - वृत्ति को संतोष न हुआ — इससे तो उनकी बढ़ती हुई प्रेमाग्नि में घी ही पड़ा। इसी प्रकार यमुनातट के शीतल कुंजों का कृष्ण ने उन्हें मार्ग दिखाया; दान - लीला - प्रसंग से भी उनके प्रेम को प्रोत्साहन मात्र मिला। इसी समय जब उनके मन में तरह - तरह की उमंगें उठ रही थीं, भविष्य के संबंध में अत्यंत मनोहर और लुभावने स्वप्न वे देख रही थीं, तभी उनकी समस्त आशाओं का केंद्र, उनका प्यारा कृष्ण उन्हें रोती - विलखती छोड़कर मथुरा चला गया; जाने पर विवश हुआ। फलतः गोपियों का प्रेम - पाठ अधूरा

रह गया, उन्हें तत्संबंधी पूर्ण अनुभव न हो सका। उनके मन की मन में ही रह गई; वे मन-मसोस कर रह गईं। ऐसा मालूम होने लगा जैसे उनके शरीर का रक्त कोई खींच ले गया हो। जीवन उन्हें खोखला लगने लगा। दिन-रात अनमनी-सी होकर वे मथुरा की ओर ताका करती थीं। अब उन्हें जीवित रखने वाली, कृष्ण के लौट आने की आशा थी। नंदजी उनके साथ मथुरा गए थे और व्रज-वासियों को यह सांत्वना दे गए थे कि मैं शीघ्र ही कृष्ण के साथ वापस आ जाऊँगा। गोपियों के जीवन का सहारा यही आशा थी। नित्यप्रति उनके आने की राह उत्सुकता से देखी जाने लगी। आते-जाते सब की दृष्टि मथुरा-पथ की ओर ही लगी रहती। गोप-बालक पेड़ों पर चढ़ कर दूर तक उसी ओर देखा करते; कभी मीलों तक यह देखने दौड़े चले जाते कि कृष्ण आ तो नहीं रहे हैं। परंतु जब कृष्ण के आने की सूचना न मिलती, तो बेचारे निराश, खिन्न मुख लौट आते।

अंत में एक दिन नंदजी लौट आए। गोपी-ग्वाल सभी उनके आने की बात सुनते ही कृष्ण-दर्शन-लालसा से दौड़ पड़े। परंतु नंदजी तो अकेले लौटे थे। यह देखते ही व्रजवासियों के धैर्य का बाँध टूट गया, उनकी आशा पर पानी पड़ गया।

उनकी सारी उमंगें नष्ट हो गईं, गोपियों के लिए तो अब जीवन में कोई आकर्षण न रहा। कृष्ण की प्रिय स्मृति में अब वे घुलने लगीं, उनके सामने अब कृष्ण की मूर्ति तो न थी, उनकी मधुर स्मृति साकार बन कर उन्हें लुभाने लगी। घर में, वन में, सर्वत्र कृष्ण के साथ वे घूमी थीं; खेली थीं। इन स्थानों में उन्हें अब भी जाना पड़ता था। पहले यहाँ वे प्रेम की मधुर माधुरी का पान करती थीं, अब वे अस्त-व्यस्त स्थिति में पागलों सी घूमने लगीं। घर उन्हें काटने दौड़ता था, वन साँय-साँय करता था। मधुवन, करील-कुंज, वंशीवट, सभी रम्य रंगस्थल उनके लिये दुखदाई थे। प्रिय कृष्ण के पास उन्होंने संदेशे भेजने आरंभ किए। माता ने भी कुशल-समाचार मँगाया; एक बार प्यारा और भोला मुख दिखला जाने को कहा। संदेशों की संख्या और पूछने-वालों का ताँता इतना बढ़ गया कि परेशान होकर पथिकों ने वह मार्ग ही छोड़ दिया। गोपियों ने पवन, मेघ, कोयल से संदेश ले जाने की प्रार्थना की; पर सब व्यर्थ। कृष्ण का उन्हें कोई संदेश नहीं मिला। इससे जैसे उनका हृदय फट गया; रोते रोते आँखों के आँसू सूख गए; शरीर क्षीण हो गया, कांति नष्ट हो गई। सारा व्रजमंडल शोक से कातर हो गया। जड़ प्रकृति भी इस दुख को न सह सकी; यहाँ

तक कि यमुना तो उनके वियोग में जलकर नीली हो गई।

यशोदा-विलाप

हिंदी कवियों ने कृष्ण-वियोग-जन्य दुख से दुखी गोपियों के उद्गारों को खूब विस्तार दिया है; परंतु उनके माता-पिता की दयनीय दशा देख कर भी वे उसे भूल-सा गए हैं। सूरदास ने भी इने-गिने पद लिख कर ही इस प्रसंग को समाप्त कर दिया है। संभव है, इसका कारण मधुर-भाव की उपासना-संबंधी उनका ध्येय हो; परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसा करके उन्होंने काव्य का एक अत्यंत मार्मिक विषय खो दिया। आधुनिक कवियों में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'प्रिय प्रवास' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में इस विषय का यथोचित विस्तृत वर्णन करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इनका 'यशोदाविलाप' हिंदी साहित्य की अनूठी चीज है।

कृष्ण-दशा

अपना प्यारा व्रज छोड़ कर, अपने साथ खेली हुई सुंदर गोपियों को छोड़ कर और जिन माता-पिता की स्नेहमयी गोद में वे खेले थे, जिन्हें तरह-तरह की बाल-क्रीड़ाओं से मुग्ध किया था, स्वार्गो-

पम सुख दिया था, उन्हीं को छोड़ कर कृष्ण को मथुरा जाना पड़ा। उनके पास प्रेमी हृदय था। माता-पिता से उन्हें स्वाभाविक प्रेम था; सखा ग्वाल-बालों से उन्हें स्वाभाविक प्रेम था; साथ खेली हुई व्रज-बालाओं से उन्हें मधुर और स्वाभाविक प्रेम था; जिन गैयों को वे दिन रात चराया करते थे, जिनका दूध वे जंगल में थन में मुँह लगा कर पिया करते थे, जिनकी पीठ सहलाने में उन्हें बड़ा आनंद आता था, उन मूक पशुओं से भी उन्हें बड़ा प्रेम था और जिस व्रजभूमि पर लाट-लाट कर वे बड़े हुए थे उनसे भी उन्हें सहज प्रेम था। ऐसा प्रेमी मथुरा जैसे सुंदर और रमणीक नगर में जाकर राज्य और समाज के कुचक्रों में तो भले ही फँस गया हो, परंतु व्रज की प्रत्येक स्मृति उसका हृदय अवश्य सालती रही होगी। कई दिन तो राजधानी में उनका मन ही न लगा होगा।

कृष्ण और ऊधव

मथुरा में रहते हुए कृष्ण दिन भर सोचते रहते थे—माता पिता की, प्यारे ग्वाल बालों की, सरल हृदया प्रेममयी व्रजबालाओं की क्या दशा होगी? मेरे वियोग में उन्हें कितना दुख होगा? न जाने उनके दिन कैसे बीत रहे होंगे? रोज वे आना चाहते

थे, परंतु आ न सके। दिन-दिन परिस्थिति और समस्याएँ जटिल ही होती जातीं थीं। धीरे धीरे उन्हें जान पड़ने लगा कि कम से कम अभी तो उनक व्रज लौटना असंभव ही है।

इसी बीच में कुब्जा नामकी एक दासी ने उनकी बड़ी सेवा की। उससे वे प्रसन्न भी हो गए। इस प्रसन्नता का समाचर कृष्ण के प्रेम का संवाद बनकर व्रज में पहुँचा। कृष्ण को इसका कुछ पता न था।

अंत में उन्होंने व्रजवासियों को सांत्वना और संतोष देने के लिए ऊधव के द्वारा संदेश भेजने का निश्चय किया। प्रसंग यह भी है कि ऊधव को अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था। कृष्ण को गोपियों के, अपने मित्रों के और माता-पिता के वियोग में दुखी देख कर वे कभी कभी हँस भी दिया करते थे। गोपियों की बात सुन कर भी उन्हें हँसी आई और उन्होंने बड़े गर्व से कहा—मैं उन्हें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देकर मोह-ममता से मुक्त कर सकता हूँ। ऐसे शुष्क हृदय व्यक्ति के द्वारा माता-पिता और गोपियों के पास उन्होंने अपना संदेश कदाचित इसी उद्देश्य से भेजा कि यह प्रेम और ममता की महिमा समझ जाय इसे पता हो जाय कि सांसारिक ममता और मोह निस्वार्थ भक्ति और प्रेम का बंधन कितना शक्तिशाली होता है।

ऊधव का व्रज पहुँचना

ब्रह्मज्ञान, अद्वैतवाद और योग की शिक्षा देने, मन में तरह तरह के तर्क-कुतर्क करते हुए उधव व्रज में पहुँचे। दूर से उनका रथ आता देखकर व्रज-वासियों ने समझा—कृष्ण आ गए। उमड़ती प्रसन्नता से हाथ का काम छोड़ कर सब उसी ओर दौड़े; पर कृष्ण को न पाकर वे बड़े खिन्न हुए। कवि जैसे इस खिन्नता से यह आभास दे देता है कि ऊधव से मिलकर व्रजवासियों को आगे भी खिन्नता ही होगी। ऊधव को कृष्ण का मित्र जानकर सबने बड़ी आव-भगत की। सब को आशा थी ये प्रिय कृष्ण का मधुर और शांतिदायक संदेश लाए होंगे। इससे उनका और भी अधिक सम्मान हुआ।

ऊधव - गोपी - संवाद

माता यशोदा और पिता नंद को सांत्वना देकर ऊधव गोपियों से मिलते हैं। व्रजबालाओं के मन में उस समय तरह-तरह के विचार उठ रहे थे। कोई कृष्ण की निष्ठुरता के विषय में सोच रही थी, कोई यह सोच रही थी मथुरा जाकर वे हमें भूल ही गए; वहाँ की नागरिक स्त्रियों के सामने उन्हें हमारी क्या चिंता होगी? किसी का अनुमान था कि ऊधव को भेजकर कृष्ण ने क्षमा माँगी होगी, और कोई विचारती

थी कि कृष्ण ने अपने आने का समाचार इनके द्वारा भेजा होगा। अतः वे बड़े उल्लास से ऊधव से मिलती हैं। कुशल प्रश्न के पश्चात् गोपियाँ अपनी प्रीति का परिचय और कृष्ण की निष्ठुरता के लिए उन्हें उलाहना देना चाहती हैं। वे अपनी दशा का वर्णन करती हैं और स्वयं ऊधव भी कृष्ण-वियोग में दुखी गोपियों की दशा देखते-समझते हैं। प्रिय-मित्र के रूप में ऊधव को पाकर उनके हृदय में सोती हुई स्मृति जैसे जाग जाती है; हृदय के उद्-गार उमड़ आते हैं; आँसू बहने लगते हैं। अपने विषय में वे जो कुछ कहना चाहती हैं, कह नहीं पातीं। गोपियों की इस दयनीय दशा का दिग्दर्शन कराना 'भ्रमरगीत' का प्रथम उद्देश्य है। इस विषय का प्रतिपादन भी सूरदास तथा अन्य कवियों ने बड़ी कुशलता से किया है। 'भ्रमरगीत' के अनेक पदों में गोपियों की विरह-जन्य कातर दशा का करुण और हृदय-स्पर्शी चित्र खींचा गया है। सहृदय व्यक्ति उसे पढ़कर अपने आँसू नहीं रोक सकते। इसके पश्चात् ऊधव-गोपी-संवाद आरंभ होता है। काव्य की दृष्टि से 'सूरसागर' का यह अंश सबसे सुंदर और विस्तृत है।

विरह में व्याकुल गोपियों के लिए बहुत समय पश्चात् सुख का दिन आया है। कृष्ण के आने के विषय

में तो वे निराश हो हो चुकी हैं; परंतु एक बार उनका संदेश पाने की बड़ी इच्छा है। कृष्ण के पास उन्होंने इतने संदेश भेजे थे कि उनसे मधुवन के सब कुएँ भर गए होंगे। परंतु इनका कोई उत्तर कृष्ण की ओर से अब तक नहीं मिला। आज ऐसा शुभ दिवस आया है कि संदेशों का उत्तर ही नहीं, कृष्ण के साक्षात् मित्र उनके पास आए हैं। इतने समय के पश्चात् आज उन्हें हँसने बोलने का अवसर मिला है। ऊधव से वे हास-परिहास तक करती हैं। प्रिय-मित्र से परदा ही क्या! फिर ऊधव तो रूप-रंग में, वसन-भूषण में भी कृष्ण के समान ही हैं।

शुष्क ब्रह्मज्ञानियों के पास इस हास-परिहास और विनोद का उत्तर नहीं है। उत्तर वे दें भी क्या! रसिकता से वे भागते हैं, प्रेम से वे कोसों दूर हैं। ऐसी दशा में गोपियों के प्रेम-विषयक विनोद को ऊधव ने उनका प्रलाप ही समझा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। हक्का-बक्का से वे गोपियों का मुँह ताकने लगे।

हाँ, जब गोपियों ने अपनी विरह-दशा का वर्णन करना आरंभ किया; कृष्ण-वियोग में किस तरह तड़प-तड़प कर उन्होंने जीवन का इतना समय काटा

है, कृष्ण से वे कितना प्रेम करती हैं, कृष्ण के न आने से उनकी दशा कितनी दयनीय हो गई है, उनके दर्शनों की उन्हें कितनी लालसा है आदि अनेकानेक बातें उन्होंने बतलाईं तब ऊधव को उन्हें समझाने और अपनी बात कहने का अवसर मिल गया। उन्होंने गोपियों को ज्ञान और योग का उपदेश दिया। ऊधव के शुष्क-ज्ञान और श्रम-साध्य योग की बातें गोपियों की समझ में नहीं आईं। रसिक-प्रवर कृष्ण के प्रिय-सखा के मुख से ऐसा सुनने की उन्हें आशा भी नहीं थी। अतः आरंभ में तो वे यही नहीं समझ पातीं कि वे जाग रही हैं या स्वप्न देख रही हैं। परंतु बार-बार ऊधव ने जब वेही बातें दोहराईं तब उन्हें मालूम हो जाता है कि ऊधव का निर्माण किस तत्व से हुआ है। प्रिय-सखा की हृदयहीनता का परिचय पाकर गोपियों को बड़ी निराशा होती है। वे ऊधव के ज्ञान और योग का खंडन करती हैं और समझाती हैं कि तुम्हारे निर्गुण ब्रह्म से हमारा काम नहीं चल सकता; हमें उसकी तनिक भी चाह नहीं है, हम अपने प्रिय उस कृष्ण को चाहती हैं जिसके साथ हम खेल चुकी हैं, जिससे हमारा 'लरिकाई' का प्रेम है और जो प्रेम-पूर्ण व्यवहारों का उत्तर देन में कुशल है। अपनी बातों पर ऊधव को ध्यान न

देते और अपनी ही अलापते देख गोपियों को स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे निर्गुण ब्रह्म का प्रचार करने ही ब्रज में आए हैं अब वे ऊधव की हँसी उड़ाने लगती हैं ।

इसी समय एक भ्रमर उधर से उड़ता हुआ निकलता है । किंवदंती है कि यह भ्रमर मथुरा की ओर से आता और राधा के चरण - कमलों पर मंड़राने लगता है । सब गोपियों का ध्यान स्वभावतः उसकी ओर आकर्षित हो गया। इधर ऊधव अपनी तरंग में ज्ञानोपदेश दिए जा रहे हैं । उधर भ्रमर भ्रम में पड़ा गुनगुनाता चला जा रहा है । रूप - रंग तो दोनों का समान है ही; हटधर्मीपन भी मिल जाता है । इसलिए गोपियाँ भ्रमर को संबोधित करके उत्तर देना आरंभ करती हैं । गोपियाँ बातें सुना तो रही हैं ऊधव को, पर कह रही हैं भ्रमर से । गोपियों की इन्हीं उक्तियों को 'भ्रमरगीत' नाम दिया गया है । इस प्रसंग में गोपियों ने ऊधव को खूब आड़े हाथों लिया है—खरी - खोटी, उलटी - सीधी सभी सुनाई हैं। संबोधन वे कभी तो सीधे ऊधव को करती हैं और कभी भ्रमर को । यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि दोनों प्रकार के संबोधन सार्थक हैं। जहाँ गोपियों ने सीधी - सादी साधारण व्यंग्य की बात कही है वहाँ प्रायः ऊधव को संबोधित किया है; परंतु जहाँ व्यंग्य

कुछ कटु हो गया है, प्रसंगवश आवेश में कोई कटूक्ति उनके मुख से निकल गई है वहाँ प्रियवर कृष्ण की सम्मान-रक्षा के लिए भ्रमर को संबोधित किया गया है।

गोपियों की उक्ति का सार यह है कि अपने निर्गुण ब्रह्म के विषय में जो तुम तरह तरह की बातें बना कर कह रहे हो उन्हें सुनना कौन चाहता है? समझना कौन चाहता है? उन पर विश्वास कौन करेगा? अविश्वास का मूल कारण यह है कि तुम अपनी बातों से ईश्वर के उस सगुण रूप को लोक से छिपाना चाहते हो जो मनुष्यमात्र आदिकाल से अपने चारों ओर प्रत्यक्ष देख रहा है। अतः तुम्हारा यह प्रयत्न वैसाही हास्यास्पद है जैसा तिनके की ओट में सुमेरु को छिपाने का प्रयत्न। अपने इस उद्योग में तुम कभी सफल नहीं हो सकते। कहीं तिनके की ओट में पहाड़ छिप सकता है?

ऊधव की पराजय

गोपियों के प्रेम के सामने ऊधव को झुकना ही पड़ता है। यह पराजय दो रूपों में हुई। पहली बात तो यह थी कि ऊधव अपने निर्गुण ब्रह्म की साधना के लिए गोपियों को तैयार न कर सके—तैयार करना तो दूर की बात, गोपियों को पूरी

बात सुनने को शांत भी न रख सके — और दूसरी यह कि उन्होंने स्वयं सगुण की महिमा स्वीकार करते हुए कहा — 'हौं भयो सगुण को चेरौ।' उन्हें अब ईश्वर की निर्गुण सत्ता और अद्वैत ब्रह्म की साधना पर पूर्ववत् विश्वास न रह गया। अपने ज्ञान और पांडित्य पर भी उन्हें जो गर्व था वह जाता रहा। वे गोपियों की सच्ची भक्ति और प्रीति देख कर प्रभावित होते हैं और प्रेम तथा भक्ति को ज्ञान और योग से बढ़ कर समझने लगते हैं।

ऊधव और कृष्ण

गोपियों की सच्ची प्रीति और उत्कट भक्ति की सराहना करते ऊधव व्रज से लौटे। उनका गर्व टूट गया, उनका अभिमान मिट गया। कृष्ण ने उन्हें गोपियों के पास प्रेम और भक्ति की महिमा समझने के लिए ही भेजा था। ऊधव के विचारों में अब कृष्ण की इच्छानुसार ही परिवर्तन हो गया। व्रज से लौट कृष्ण के पास जाकर जो शब्द ऊधव ने कहे हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

कृष्णोद्गार

ऊधव के भरे हुए हृदय की गद्गद् कंठ से निकली सहज प्रेमयुक्त बातें सुनकर कृष्ण का सूखा घाव जैसे हरा हो गया। प्रेम-प्रवर कृष्ण के मन में

बाल्यकाल की मनोरम स्मृतियाँ जाग उठीं। स्नेहमयी माता यशोदा और पिता नंद, प्रेम में विभोर सुंदरी व्रजबालाएँ, उन्हीं पर गर्व और मान करने वाली सुकुमार प्रेममयी राधा, प्यारे ग्वालबाल, सभी के निष्कपट, सात्विक और सरल व्यवहार के मार्मिक दृश्य उनके सामने नाचने लगे। प्यारी गैयों और हरीभरी यमुनातटवर्ती कुंजों का भी स्मरण उन्हें हो आया। उनका हृदय इसी समय मूक स्वर से रो उठा। सूर द्वारा 'ऊधव मोहिं व्रज बिसरत नाहीं' से आरंभ होने वाले पद में किया गया उनकी इस दशा का वर्णन कितना मार्मिक है सहृदय ही समझ सकते हैं।

———

*

प्रेमचंद और आधुनिक स्त्री समाज

"स्वदेश की अभीतक किसी ने व्याख्या नहीं की, पर नारियों की मानरक्षा उसका प्रधान अंग है और होना चाहिए।"—रंगभूमि (पृ० ४८४)

यों तो आज भारतवर्ष वैज्ञानिक उन्नति का प्रश्न छिड़ने पर संसार के अनेक सभ्य देशों से पिछड़ा हुआ समझा जाता है, तथापि भारतीय धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक नियमों का निर्माण जिस वैज्ञानिक ढंग से किया गया था, उसको आज के विज्ञान-विशारद भी मानते हैं। प्रेमचंदजी ऐसे लेखक थे जिनको भारतीय आदर्शों पर अभिमान था। उनकी कृतियों का विवेचनात्मक अध्ययन करने पर हमें इस कथन की सत्यता का विशेष ज्ञान हो सकता है।

सामाजिक उन्नति, हमारे भारतीय आदर्श के अनुसार, स्त्री-पुरुष की पारस्परिक सहानुभूति पर अवलंबित रहती है। इसी से हमारे यहाँ स्त्री को पुरुष की अर्द्धांगिनी कहा गया है। सामाजिक जीवन की बात तो जाने दीजिए, धार्मिक कृत्यों में स्त्री के बिना पति और पति के बिना स्त्री का कार्य पूर्ण नहीं समझा जाता। महाराज रामचंद्र ने अपने यज्ञ में, सीता की

अनुपस्थिति में, स्वर्ण की प्रतिमा बना कर इस बात को और भी महत्व दे दिया था। कालांतर में भक्ति के उपासकों ने—संकेत मैथिल-कोकिल विद्यापति और हिंदी के शृंगारी कवियों की ओर है—कृष्ण और राधा की अलौकिक प्रीति को जन-साधारण की दृष्टि में लौकिक बनाकर इस 'नियम' को और भी दृढ़ कर दिया। अस्तु!

हम देखते हैं प्रेमचंद की दृष्टि में स्त्री पुरुष की 'सहचरी' है, 'अनुचरी' नहीं। हाँ, अपनी सेवा, भक्ति और अनुपम त्याग के कारण भारतीय नारी स्वयं अपने को पति की अनुचरी समझती है। यही बात 'कायाकल्प' (पृ० ४४४) के नायक की स्त्री भी कहती है—नारी के लिए पुरुष-सेवा से बढ़कर और कोई विलास, भोग और शृंगार नहीं है। परंतु कौन कह सकता है कि नारी का यह त्याग, उसका यह सेवा-भाव ही आज उसके अपमान का कारण नहीं हो रहा है पुरुष इसको अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगे हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे, स्नेह और आदर के साथ दी जानेवाली सरल प्रकृति के किसानों की भेंट को, आज हम 'हक' के नाम से पुकारते हैं?

प्रेमचंदजी स्त्रियों का बड़ा सम्मान करते थे। उनके जिस मातृत्व पद को—संतान उत्पन्न करने के महान कार्य को—आधुनिक अर्थशास्त्र के युवक - विद्यार्थी वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति के कारण कुल, समाज और राष्ट्र के लिए भार समझते हैं उसे ही वे कितने सम्मान की दृष्टि से देखते थे, यह हमें मिस्टर मेहता के गोविंदी से कहे हुए इन वाक्यों से ज्ञात हो जाता है—

मैं समझता हूँ कि नारी केवल माता है और इसके उपरांत वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है। एक शब्द में मैं उसे लय कहूँगा, जीवन का व्यक्तित्व का और नारित्व का भी—गोदान (पृ ४३३)

यह पूर्ण सत्य है कि सामाजिक दशा पर आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का बड़ा प्रभाव पड़ता है, परंतु वास्तव में वे अर्थशास्त्रज्ञ इस प्रभाव की ओर ध्यान नहीं देते और न स्त्री के मातृत्व पद की इसलिए अवहेलना ही करते हैं कि संतानोत्पत्ति से हमारी आर्थिक दशा पर कोई प्रभाव पड़ेगा; प्रत्युत इसका प्रधान कारण सुखोपभोग की इच्छामात्र है। यह मेरा निजी मत है; अतः विचारणीय है।

परन्तु प्रेमचंद की उक्त सम्मति उनके अंतिम उपन्यास 'गोदान' की होने के कारण, संभव है, कुछ महानुभावों को आपत्तिजनक जान पड़े, इसलिए स्त्री-विषयक उनके विचारों की विवेचना करने के लिए हमें उनके भी प्रधान उपन्यासों का क्रमानुसार अध्ययन करना पड़ेगा। आरंभ में उनका 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास की स्त्रियों में सुमन का चरित्र ही प्रेमचंद की मार्के की कृति है। गार्हस्थ्य जीवन की शोचनीय परिस्थिति और आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसका 'पतन' होता है, परंतु प्रेमचंद जी उसका बड़ी सुंदरता और कुशलता से उद्धार करते हैं। हिंदू समाज चाहे अपने विचारों की संकीर्णता के कारण उसे न अपनाकर अपनी क्षुद्रता प्रदर्शित करता रहे, चाहे हमारे सुधारक नामधारी जीव प्राचीन लकीर के फकीरों के डर से उसे अपनाने में हिचकते रहें, चाहे हमारे तिलकधारी उसे विधवाश्रम में रहने भर को भी स्थान न दें, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस विशाल हृदयता के कारण 'चरित्रहीन' के सुप्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकार ने अपने नायक की 'होस्टेल' की प्रेमिका का धर्म बचाया है, उसी प्रकार प्रेमचंद जी ने हिंदू समाज की अनेक निर्वासिता, उपेक्षिता तथा अपमानित स्त्रियों का सम्मान किया है।

'प्रेमाश्रम' में परिस्थिति दूसरी है। उसमें प्रधान पात्रियों को आर्थिक संकट नहीं है। हाँ, अपने पतियों की ओर से वे धर्म-संकट में पड़ जाती हैं—ज्ञानशंकर लोभी हैं और अपने स्वजनों का अहित करके भी धन प्राप्त करना चाहते हैं; प्रेमशंकर समुद्रयात्रा से लौटकर शुद्धिसंबंधी कार्य को पाखंड समझते हैं। ज्ञानशंकर की स्त्री का इस प्रकार पति का विरोध करना मनुष्यता की दृष्टि से समाज के लिए, सत्य ही, आवश्यक है और प्रेमशंकर की स्त्री तो भारतीय आदर्श नारी की प्रतिमूर्ति है ही, जिसमें त्याग है, प्रेम है, सेवाभाव है और पति के इशारे पर ही न्यौछावर हो जाना जिसका गौरव है।

'कायाकल्प' के राजा की प्रथम तीन-तीन रानियों से हमें कोई मतलब नहीं, पर मनोरमा का त्याग, अपने प्रिय स्वामी की आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए अपने सुख, अपने विकास, अपने जीवन-सार, सब का बलिदान कर देना वास्तव में बड़े महत्व का है। इँगलैंड के सुप्रसिद्ध लेखक चार्ल्स डिकेंस के 'ए टेल आव टू सिटीज' नामक उपन्यास का प्रतिद्वंद्वी नायक सिडनी कार्टन जिस प्रकार अपनी प्रेमिका के पति को बचाने के लिए अपने प्राण दे देता है, उससे 'कायाकल्प' की मनोरमा का त्याग कहीं बढ़कर माना जायगा।

इसी प्रकार 'गबन' की नायिका भी यद्यपि आरंभ में धोका खा जाती है तथापि वह मानिनी हिंदू नायिका है। उपन्यास का विषय दूसरा होने के कारण प्रेमचंदजी ने उसके चरित्र की इस विशेषता पर विशेष प्रकाश नहीं डाला, इसी से हम भी इसे छोड़ 'रंगभूमि' की रानी जाह्नवी की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। भारतीय इतिहास के हिंदू-सम्राटों के काल में—रामायण-महाभारत काल में तो कम, राजपूतों के समय में बहुत ही अधिक—हमने देश, धर्म, सम्मान आदि के लिए अपने पुत्रों का बलिदान करती हुई अनेक माताएँ देखी हैं। परंतु आधुनिक युग में वैसी ही वीर माता की सृष्टि करके प्रेमचंद जी ने उस कमी को दूर किया है जो वर्तमान-काल में देश के लिए अत्यंत आवश्यक होते हुए भी, हमारे उपन्यासों में नहीं मिलती। अपने पुत्र का हँसते हँसते बलिदान करा देने का जो संदेश रानी जाह्नवी ने हमारी माताओं और बहनों को दिया है, राजपूत काल का अध्ययन करने वाले इसे भली भाँति जानते होंगे।

यह अंतिम बात अवसर अथवा परिस्थिति-विशेष के लिए ही आवश्यक होती है; मान-सम्मान, धर्म और देश के लिए प्राण दे देना मनुष्य मात्र की सजीवता का लक्षण होते हुए भी, स्त्रियों का यही

प्रधान कर्तव्य नहीं है। सामाजिक जीवन में स्त्री का पति के साथ व्यवहार ही मुख्य धर्म समझा जाता है। ऊपर पति के प्रति भारतीय स्त्री के जिस व्यवहार की ओर संकेत किया गया है, उसमें आज परिवर्तन हो रहा है; स्त्रियाँ अपनी 'स्वतंत्रता' के लिए प्रयत्नशील हैं। दूसरे शब्दों में आज प्राचीन भारतीय और आधुनिक पाश्चात्य आदर्शों का संघर्ष हो रहा है। विचार से देखा जाय तो हमारी सबसे प्रधान सामाजिक समस्या यही है। प्रेमचंदजी ने इसे बहुत अच्छी तरह समझा था। उनका 'गोदान' वास्तव में ऐसा रंगमंच है जहाँ इन दोनों आदर्शों से प्रभावित स्त्रियों का संघर्ष दिखाया गया है। मिस्टर खन्ना की स्त्री हमारी भारतीय नारी है जो पति से तिरस्कृत होकर भी पति-सेवा और पुत्र-प्रेम को जीवन का एक मात्र उद्देश्य समझती है; दूसरी ओर मालती है जिसे हम आधुनिक पाश्चात्य रंग में रँगी फुदकती चिड़िया के रूप में पाते हैं। हमारे मिस्टर खन्ना-सरीखे आधुनिक शिक्षित और धनी-मानी सज्जन अपनी बीवी को 'दाल-भात' बताकर 'मिठाई' चाहते हैं और रंग रेलियों में मस्त मालती-सरीखी 'कुमारियों' के तलुए चाटने में ही जीवन की सफलता समझते हैं। फलतः अपनी स्त्री का तिरस्कार करके उन्हें जैसी मानसिक अशांति होती

है, उनकी दशा जैसी दयनीय हो जाती है, उसका परिचय हमें खन्ना के चरित्र से मिल जाता है।

अशांति और निराशा-प्रदर्शन-संबंधी इस कार्य में, संभव है; किसी को विचारों की संकीर्णता दिखाई दे, परंतु स्त्री-स्वतंत्रता-विषयक मिस्टर मेहता का व्याख्यान उस सत्य और सूक्ष्म विवेचना का परिचायक है जो भारतीय सामाजिक जीवन को सुखद और उन्नत बनाने तथा आधुनिक प्रचलित सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए अत्यंत आवश्यक है। अपवाद-स्वरूप धनियों के—जिनकी संख्या भारत में एक प्रतिशत से अधिक नहीं है—एक आध विवाह को छोड़कर हमें तो यह विदेशी बीज भारत की उर्वरा भूमि में फलता-फूलता नहीं दिखाई देता। यदि वैज्ञानिक ढंग से इस कार्य में कोई सफलता भी प्राप्त कर लेगा तो उसमें पाश्चात्य कृत्रिमता ही मिलेगी, भारतीय स्वाभाविकता नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रेमचंद जी आधुनिक स्त्री-शिक्षा के विरोधी हैं। इसका सीधा-सादा उत्तर यही है कि स्त्री-शिक्षा का हमारा उद्देश्य स्त्री को उसका कर्तव्य समझाना और पति के कार्य में सहायता करने योग्य बनाना मात्र रहा है। प्रेमचंदजी इसी के पक्षपाती हैं। आधुनिक शिक्षित नवयुतियों

में जैसी लाजहीन उदंडता या स्वच्छंदता दिखाई देती है, उसे वे आदर की दृष्टि से नहीं देखते। ध्यान रहे कि स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में बड़ा सम्मान था, फिर भी मिस मालती-सरीखी शिक्षित नव-युवतियाँ और उनका बाह्य आडंबर-पूर्ण शृंगार उन्हें पसंद नहीं था। मिस मालती का चित्र देखिए:—

दूसरी महिला जो ऊँची एड़ी का जूता पहने हुए हैं और जिनकी मुख छवि पर हँसी फूटी पड़ती है, मिस मालती हैं। आप इँगलैंड से डाक्टरी पढ़ आई हैं और अब प्रेक्टिस करती हैं। ताल्लुकेदारों के महलों में उनका बहुत प्रवेश है। आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल, चपलता कूट-कूट कर भरी हुई; झिझक या संकोच का नाम नहीं, मेकअप में प्रवीण, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष-मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है वहाँ हाव-भाव, मनोद्गारों पर कठोर निग्रह, जिनमें इच्छा या अभिलाषा का लोप-सा हो गया है।

गोदान (पृ० ८६-९०)

यह है हमारी शिक्षिता, अविवाहिता, नवयुवती का चित्र। आधुनिक स्त्री-स्वतंत्रता-संबंधी आंदोलन

के पक्षपाती पुरुष भी बहुत हैं और स्त्रियाँ भी। अपने हृदय पर हाथ रखकर वे स्वयं सोचें — केवल मौखिक उपदेशों और व्याख्यानों से काम नहीं चलेगा — कि क्या वे अपनी पुत्री को उक्त मिस मालती बनाना चाहती हैं ? क्या मिस मालती बनाकर अपने गृहस्थ जीवन में उनको कभी सुख मिल सकेगा ?

आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा का जो सब से भयंकर प्रभाव हमारे नवयुवकों और नवयुवतियों पर पड़ा है, वह हमारी सम्मति में, यही है कि उन्होंने संभवतः भौतिकता को ही प्रधानता देकर गंभीर अध्ययन, मौलिक विवेचन और सरल आचरण — (Plain Living and High Thinking) संबंधी प्राचीन भारतीय आदर्श को सर्वथा भुला दिया है। फलतः हमारे पढ़े-लिखे युवकों को फैशनेबल लेडियाँ और शिक्षिता अविवाहिता नवयुवतियों को फैशनेबुल जेंटिलमैन ही पसंद आते हैं। यदि इस 'पसंद' का कारण, समता, प्रेम, भक्ति त्याग आदि की नींव होती तो बड़ी सुंदर बात थी, परंतु यदि इसका कारण क्षणिक भावावेश-सा अज्ञान ही हो, तब हम उसकी प्रशंसा नहीं करते। प्रेमचंदजी के विचार भी यही हैं। 'गोदान' के मिस्टर खन्ना धनी हैं, सज्जन, शिक्षित, उदार, अधिकारी—जनता की दृष्टि में सभी-कुछ—हैं। परंतु उनको अपनी सती-साध्वी

स्त्री गोविंदी से प्रेम नहीं है। हाँ, उनका हृदयोद्यान मिस मालती के कृत्रिम कलरव से गूँज उठता है। प्रेमचंद की दृष्टि में मिस्टर खन्ना का इस प्रकार अपनी पत्नी से विश्वासघात करना सरासर मूर्खता है—घर आए नाग न पूजिए, बाँबी पूजन जाय-सा है। सारी परिस्थिति की आलोचना मिस्टर मेहता के मुँह से कराते हुए ये कहते हैं—

खन्ना अभागे हैं जो हीरा पाकर काँच का टुकड़ा समझ रहे हैं। सोचिए, (उनकी स्त्री में) कितना त्याग है और उसके साथ ही (पत्नि से) कितना प्रेम है। खन्ना के कामासक्त मन में शायद उनके लिए रत्ती भर स्थान भी नहीं है; लेकिन आज खन्ना पर कोई आफत आ जाय, तो वह अपने को उन पर न्यौछावर कर देगी। खन्ना आज अंधे या कोढ़ी हो जायँ तो भी उसकी वफादारी में फर्क न आएगा। अभी खन्ना उसकी कद्र नहीं कर रहे हैं, मगर आप देखेंगे यही खन्ना एक दिन उनके चरण धोकर पिएँगे। मैं ऐसी बीबी नहीं चाहता जिससे मैं आइंसस्टीन के सिद्धांत पर बहस कर सकूँ, या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ देखा करे। मैं ऐसी औरत चाहता हूँ, जो मेरे जीवन को पवित्र और उज्वल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से। गोदान (पृ० २४४)

ऊपर के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि प्रेमचंद जी स्त्रियों के लिए शिक्षा की आवश्यकता समझते थे, परंतु सुप्रसिद्ध अँगरेजी लेखक जान रस्किन (John Ruskin) की तरह उनकी स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य भी स्त्रियों को उनके पति का महत्व समझाना था, फैशन अथवा विलास-प्रियता की वृद्धि करना नहीं, जिसे आज सभ्यता के अंतर्गत बतलाया जाता है। पाश्चात्य देशों की तरह स्त्रियों से वे पैसा नहीं पैदा कराना चाहते थे। इस बात का प्रमाण 'कायाकल्प' के उस स्थान पर मिलता है जब उसका नायक अपनी स्त्री के लेख के पारिश्रमिक-संबंधी धन से लाए हुए कंबल को ओढ़ने की अपेक्षा, सर्दी में ठिठुरते हुए रात काट देता है। कुछ लोग ऐसे कार्य को लकीर का फकीर सा बतलावेंगे, परंतु वस्तुतः इसका कारण यह है कि भारतीय समाज में स्त्री के भरण-पोषण का अधिकार पुरुष को है। स्त्री यदि स्वयं इसकी चिंता करेगी, स्वयं पैसा पैदा करने का प्रयत्न करेगी, तो भारतीय आदर्श के विपरीत, यह निश्चित है कि पति से स्वाधीन होने का विचार उसमें पैदा होगा, जो क्रमशः किसी न किसी समय में, पारस्परिक विरोध का रूप धारण करेगा। इसका परिणाम अंततः कलह है। संभव है, साथ-साथ धन कमानेवाले दंपति में प्रेम,

सहानुभूति और त्याग के सात्विक भाव भी हों, पर ऐसा प्रायः बहुत कम होता है। कारण, दिन भर के हारे-थके पुरुष की सारी थकावट घर की स्वामिनी की एक मधुर मुस्कान से तो दूर हो सकती है पर कमाऊ स्त्री के थके-माँदे प्यार से नहीं। एक शब्द में, इसका आशय यही है कि प्रेमचंद जी स्त्री की शिक्षा के पक्षपाती होते हुए भी उसे घर की स्वामिनी बनाना चाहते हैं, बाहर के सार्वजनिक जीवन का ऐसा प्रतिद्वंदी नहीं जिसको, हम जानते हैं कि कारण-विशेष से सदैव 'प्रिफरेंस' दिया जाता है।

रह गई स्वतंत्रता-संबंधी आधुनिक स्त्री-आंदोलन की बात। प्रेमचंद जी ने, जान पड़ता है, इस महत्वपूर्ण समस्या का गंभीर अध्ययन किया था। उनकी सम्मति है कि स्त्रियाँ जो स्वतंत्रता के लिए आंदोलन कर रही हैं, वह केवल इसलिए कि आज पुरुष समाज उनका आदर नहीं करना चाहता, उसमें वे गुण ही नहीं है और न है गुण-ग्राहकता। 'गोदान' की मिसेज खन्ना के मुँह से यही बात सुनिए—

वास्तव में पुरुष का कर्तव्य वह भूला हुआ है कि नारी श्रेष्ठ है और सारी जिम्मेदारी उसी पर है। श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा

भार है। नारी में सेवा, संयम और कर्तव्य सब कुछ वही पैदा कर सकता है। अगर उसमें इन बातों का अभाव है तो नारी में भी रहेगा। नारियों में आज जो विद्रोह है, इसका कारण पुरुषों का इन गुणों से शून्य हो जाना है।

यह विचार अधिकांश में ठीक ही है। भौतिकवाद संबंधी पाश्चात्य आदर्श को जीवन का चरम लक्ष्य समझने वाले नवयुवक स्त्रियों को केवल मनोरंजन का ऐसा मुख्य साधन समझते हैं जो दैवी एवं मानुषी सामाजिक नियमों की सहायता से उन्हें उपलब्ध है। युवावस्था के आवेग-पूर्ण आवेश में वे गार्हस्थ्य जीवन की शांति और सामाजिक उन्नति का विचार न कर नव-वतियों के मुख्यतः वाह्य रूप और आकर्षण पर मुग्ध हो जाते हैं। परिणाम-स्वरूप, रूप का वाह्य आकर्षण उनके आवेशपूर्ण उन्माद को उत्तेजित तो अवश्य करता है, परंतु तुष्ट नहीं। उधर मानव-जीवन के समस्त संघर्ष का मूल कारण पूर्ण सुख-प्राप्ति-संबंधी उद्योग है। फल यह होता है कि संतुष्ट न होकर अंत में उनका जीवन, अशांतिपूर्ण हो जाता है। इस असंतोष और अशांति को दूर करके सुख-संतोष प्राप्त करना ही प्रेमचंद के स्त्री-समाज का प्रधान उद्देश्य है। इसका

उपाय उन्होंने मिस्टर मेहता के व्याख्यान द्वारा (गोदान में) बता दिया है — नवयुवतियों की शंकाओं का समाधान भी उन्होंने कर दिया है। अपने समाजिक - गृहस्थ - जीवन में जिस शांति और सुख - संतोष के लिए मनुष्य लालायित और प्रयत्नशील रहता है वही प्राप्त करना जिन्होंने अपना जीवनादर्श बना लिया है—या समझते हों—उन्हें मिस्टर मेहता के उस व्याख्यान का सहृदयतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। स्त्रियों की आधुनिक समस्या भी—प्रत्येक प्रश्न को राजनीतिक दृष्टि से देखने वाले जिसे आंदोलन के नाम से पुकारते हैं—उससे स्पष्ट हो जाती है और उसके पक्षपातियों की शंकाओं का समाधान करने में भी हम सफल हो सकते हैं।

इस संबंध में एक बात वे पुरुषों से भी पूछते हैं। हम क्यों ऐसा समझते हैं कि स्त्रियों का जीवन केवल भोग विलास के लिए ही है? क्या उनका हृदय ऊँचे और पवित्र भावों से शून्य होता है? वास्तव में हमी ने उन्हें कामिनी, रमणी, सुंदरी आदि विलास सूचक नाम देकर वास्तविक वीरता, त्याग और उत्सर्ग से शून्य कर दिया है। अगर सभी पुरुष वासनाप्रिय नहीं होते तो सभी स्त्रियाँ वासनाप्रिय क्यों होने लगीं? (कायाकल्प पृ० ४३६)

सत्य ही इन बातों पर सहृदयतापूर्वक विचार करने से ही यह सामाजिक समस्या हल हो सकती है। हमारे सुधारक कोरी लेक्चरबाजी न करके समस्या अथवा आंदोलन के मूल कारणों की प्रेमचंद की ही तरह विवेचना करेंगे, तभी उन्हें सफलता मिलेगी।

हिंदी लेखक — एक चित्र

अपने दुबले-पतले इकहरे शरीर को निर्धन मजदूरों के दुर्बल हाथों से कती-बुनी खादी की मोटी धोती और मामूली लंबे कुरते से, जो शरीर की दयनीय दुर्बलता के कारण आवश्यकता से कुछ अधिक लंबा जान पड़ता है, ढके; विगत विद्यार्थी-जीवन के अवशिष्ट चिह्न-से सर के बाल अस्तव्यस्त बढ़े हुए; अनुपयुक्त वेष-भूषा और पिचके गालों के कारण गोल और छोटा होते हुए भी लंबा लगनेवाला सूखा चेहरा; पैर में चार-पाँच आने की, पहनने वाले की करुण दशा की ओर संकेत सा करती हुई मामूली चप्पल; यही है हिंदी लेखक का वह पूर्ण परिचित चित्र जो हम नित्य-प्रति आश्चर्य और उपेक्षा की दृष्टि से — आश्चर्य इस बात का कि क्या यही निर्जीव-सा व्यक्ति वह लेखक है जिसकी ठोस, गंभीर और प्रौढ़ रचनाओं को पढ़कर हम मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञानार्जन भी करते हैं और उपेक्षा इस कारण कि हिंदी में तो इनके ऐसे भाई-बंधुओं की बाढ़-सी आई हुई है जिन्हें बिना दूसरों की सुने अपनी ही कहे जाने का रोग-सा हो गया है—पत्र-संपादकों के दफ्तरों में, सार्वजनिक, सामाजिक,

राजनीतिक अथवा साहित्यिक संस्थाओं के साधारण अधिवेशनों में बराबर देखा करते हैं ।

इनकी आर्थिक स्थिति का कुछ परिचय इनकी सीधी-सादी रहन-सहन और इनके सस्ते वस्त्रों को देखकर मिल जाता है; रही-सही बात का ज्ञान, इनके सूखे चेहरे से टपकती हुई स्पष्ट निराशा, अपनी शोचनीय स्थिति का परिज्ञान-जनित असंतोष और आँख फाड़-फाड़कर जैसे आश्रय के लिये चारों ओर निहारती, चिंतित विवशता से हो जाता है ।

इनकी पूँजी, जो इनके रात-रात भर के जागरण और अथक परिश्रम तथा अध्यवसाय की गाढ़ी कमाई है, कुछ थोड़ी-सी छोटी-मोटी पत्र-पत्रिकाएँ और शरीर के खून से, प्रकाशमय विश्व के घने अंधकार में नित्य-प्रति क्षीण होती नेत्र-ज्योति की सहायता से लिखे कुछ प्रकाशित और अप्रकाशित लेख हैं । अपने प्रकाशित लेखों की ओर से वे कुछ निश्चिंत हो जाते हैं; ठीक वैसे ही जैसे साधारण स्थिति का पिता अपने युवा पुत्र को शक्ति भर शिष्ट, विद्वान् और गुणवान् बनाने के पश्चात् उसे इस कर्मक्षेत्र में उचित स्थान प्राप्त करते देखकर निश्चिंत हो जाता है । अपने अप्रकाशित लेखों को सजाने, सुधारने और सब प्रकार से योग्य बनाने में वे सदैव इसी

प्रकार तत्पर रहा करते हैं जैसे कन्या-विवाह के अवसर पर अच्छी दहेज देने की क्षमता से हीन पिता अपनी पुत्री को ही सुशिक्षिता और सर्वगुण-संपन्ना बनाने में संलग्न रहता है।

इसी पूँजी पर—थोड़े-से प्रकाशित और अप्रकाशित लेखों पर—उन्हें वह गर्व है जो किसी विश्व-विजयी सम्राट् को अपने समस्त धन-बल, समस्त बाहुबल और समस्त बुद्धि-बल पर होता है। इसी पर उन्हें वह अभिमान है जो धनी पिता को अपनी अपार संपत्ति के साथ-साथ दिन-प्रति बढ़ते और सुखी होते अपने अपार परिवार को देखकर होता है। इसी की रक्षा और संवर्धन में, धन की देख-रेख में लगे अर्थ-लोलुप सूम की भाँति, वे अपने जीवन का सारा अमूल्य समय लगा देते हैं। एक शब्द में, यही पूँजी है जो उनके जीवन की समस्त आशाओं का केंद्र है, अपने जीवन से निराश होकर भी यदि वे संसार में किसी अभिलाषा से कुछ दिन और जीवित रहना चाहते हैं तो केवल इसी का कुछ सम्मान-सत्कार होते देखने के लिए, विश्व में उनके लिए जीने का यही एक आकर्षण है।

पर इस व्यावसायिक जगत् में उनकी इस पूँजी का क्या मूल्य है? उनके प्राणों के प्राण को, उनके

जीवन के सार को, यह व्यावसायिक जगत् किन दामों में खरीदना चाहता है ? संक्षेप में, इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि भौतिक संघर्ष में व्यस्त सभ्य मानव-समाज, शरीर के रक्त से लिखी हुई पंक्तियों का मूल्य कौड़ियों में आँकता है। ऐसी दशा में यदि उनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय हो, तो आश्चर्य ही क्या है ?

आर्थिक स्थिति का संकेत, परोक्ष रूप से, उनकी सामाजिक स्थिति की ओर भी है। समस्त ज्ञान, सारी बुद्धि और सभी अनुभवों के सार के संकलन के लिए कुछ ताँबे के टुकड़े खर्च करने में जो समाज हिचकता है, वह इस पूँजी के मालिक का कितना सम्मान करेगा ? विद्वान् और विद्या का, गुणवान् और गुण का सम्मान होता था। पर यह न जानें किस बीते अतीत की बातें हैं। आज धर्मांधों की दृष्टि में वह उनके सेवकों से भी गया-बीता व्यक्ति है; उनके एक इंगित पर अपने संस्कारों का, अपनी आत्मा का हनन करके सत्य को असत्य और असत्य को सत्य प्रमाणित कर सकता है वह — करने पर विवश है। उनके सामने उसकी कोई स्थिति नहीं, उसका कोई पद नहीं। वह उनके हाथ की कठपुतली है जिसे वे मनमाना नाच नचा सकते हैं।

और स्वयं अपनी दृष्टि में उसकी स्थिति क्या होगी ? जिसके अनुभव का मूल्य नहीं, जिसके कार्यों का सम्मान नहीं और जिसके लिए उन्नति के सारे द्वार बंद हैं, उसके जीवन में कितना रस होगा ? जिसमें आग उगलने की शक्ति है, विष भरे अस्त्र-शस्त्रों की शक्ति से कहीं भयानक साहित्य की शक्ति का जो जन्मदाता है, विधाता है, वही इतनी उपेक्षा और तिरस्कार सहकर भी पुनः इसी अंधकार-पूर्ण पद का पथिक क्यों बना हुआ है ? 'निर्लज्ज' और 'स्वार्थी' आदि विशेषणों से विभूषित होकर भी भौतिक जगत् की चाटुकारी वह क्यों करता-फिरता है ? क्या कुछ चाँदी के टुकड़ों के लिए ही वह विकल है ? अथवा सम्मान का वह भूखा है ? इन और ऐसे ही अनेक विविध प्रश्नों का उचित उत्तर हम तो नहीं, केवल वही दे सकता है जिसने परोपकार के लिए निःस्वार्थ भाव से, अपने शरीर के रक्त का, नेत्रों की ज्योति का, जीवन के रस का और सुखों के सार का होम कर दिया हो। हम तो केवल उसकी उपेक्षा कर सकते हैं, उसकी हँसी उड़ा सकते हैं; क्योंकि हम भी तो इसी भौतिक संघर्षपूर्ण जगत् के सभ्य सदस्य हैं।

———